अध्याय–5

संसद् के घटकों के पारस्परिक संबंध

राष्ट्रपति और संसद्

संविधान के अधीन संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है और वह उसका प्रयोग स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करता है।[1] अनुच्छेद 73(1) के अधीन संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उन विषयों तक होता है जिनके संबंध में संसद् को विधि बनाने की शक्ति है और संसद्, राष्ट्रपति और संसद् के दोनों सदनों अर्थात् काउंसिल ऑफ स्टेट्स (राज्य सभा) और हाउस ऑफ दि पीपल (लोक सभा) से मिलकर बनती है।[2] इस प्रकार राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रमुख है और साथ ही संसद् का एक घटक भी है।

भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह पर व्यक्तिगत रूप से किए गए आक्षेपों के कारण विशेषाधिकार भंग होने की सूचना का मामला विशेषाधिकार समिति को जांच-पड़ताल और प्रतिवेदन के लिए सौंपा गया था। इस संदर्भ में समिति ने संविधान के अनुच्छेद 79 के दायरे पर विचार किया। इस संबंध में समिति ने भारत के महान्यायवादी की राय मांगी जिन्होंने निम्नलिखित मत व्यक्त किया:

''संविधान के अनुच्छेद 79 के अधीन संघ के लिए एक संसद् होगी जो राष्ट्रपति और दो सदनों से मिलकर बनेगी जिनके नाम राज्य सभा और लोक सभा होंगे। संविधान के अनुच्छेद 168 के अधीन भी इसी प्रकार का उपबंध है। अनुच्छेद 168 के अधीन किसी राज्य का राज्यपाल राज्य के विधान-मंडल का एक घटक होता है। उच्चतम न्यायालय ने हैक्स्ट फार्मास्यूटिकल्स लिमिटेड तथा एक अन्य **बनाम** बिहार राज्य तथा अन्य (ए॰ आई॰ आर॰ 1983, एस॰सी॰ 1019 का पृष्ठ 1048) में अन्य बातों के साथ निम्नलिखित टिप्पणी की:

> अनुच्छेद 168 के अधीन राज्यपाल को किसी राज्य का एक घटक इसलिए बनाया गया है कि किसी राज्य विधान-मंडल द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक को अनुच्छेद 200 के अधीन राज्यपाल की अनुमति के लिए आरक्षित रखना आवश्यक है।

अनुच्छेद 79 के दायरे के संबंध में इसी तर्क के आधार पर मेरा मत यह है कि राष्ट्रपति को संसद् का एक घटक इसलिए बनाया गया है कि संसद् के सदनों द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक को संविधान के अनुच्छेद 111 या अनुच्छेद 368 के अधीन राष्ट्रपति की अनुमति के लिए आरक्षित रखा जाना है।''[3]

राष्ट्रपति संबंधी उपबंध

निर्वाचन

राष्ट्रपति का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा ऐसे निर्वाचक-मंडल के सदस्य गुप्त मतदान द्वारा करते हैं जिसमें संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य और राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य होते हैं।[4] अनुच्छेद 54 और 55 में उल्लिखित ''राज्य'' शब्द के अंतर्गत राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली और पांडिचेरी का संघ राज्य क्षेत्र उस तारीख से शामिल होगा जो अधिसूचित की जानी है।[5]

संविधान में उपबंध किया गया है कि जहां तक साध्य हो, राष्ट्रपति के निर्वाचन में भिन्न-भिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व के मापमान में एकरूपता होगी। राज्यों में आपस में ऐसी एकरूपता तथा समस्त राज्यों और संघ में समतुल्यता प्राप्त कराने के लिए संसद् और प्रत्येक राज्य की विधान सभा का प्रत्येक निर्वाचित सदस्य ऐसे निर्वाचन में जितने मत देने का हकदार है उनकी संख्या निम्नलिखित रूप से अवधारित की जाती है:

(क) किसी राज्य की विधान सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के उतने मत होंगे जितने कि एक हजार के गुणित उस भागफल में हों जो राज्य की जनसंख्या को उस विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या से भाग देने पर आए;

(ख) यदि एक हजार के उक्त गुणितों को लेने के बाद शेष पांच सौ से कम नहीं हैं तो उपखंड (क) में निर्दिष्ट प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या में एक की और वृद्धि कर दी जाएगी;

(ग) संसद् के प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या वह होगी जो उपखंड (क) और उपखंड (ख) के अधीन राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों के लिए नियत कुल मतों की संख्या को संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या से भाग देने पर आए, जिसमें आधे से अधिक भिन्न को एक गिना जाएगा और अन्य भिन्नों की उपेक्षा की जाएगी।[6]

उपरोक्त को स्पष्ट करने के लिए नीचे एक उदाहरण दिया गया है:

2002 के राष्ट्रपतीय निर्वाचन में उत्तर प्रदेश के प्रत्येक विधान सभा सदस्य की प्रतिनिधित्व क्षमता 208 नियत की गई थी। यह संख्या 8,38,49,905 को (जो 1971 की जनगणना के अनुसार राज्य की कुल जनसंख्या थी) 403 से (जो विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या थी) भाग देकर और इस भागफल को पुन: एक हजार से भाग देकर इस प्रकार प्राप्त हुई:

$$\frac{8,38,49,905}{403 \times 1000} = 208.06 = 208$$

इसी प्रकार सिक्किम विधान सभा के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्यांक 7 था:

$$\frac{2,09,843}{32 \times 1000} = 6.55 = 7$$

इसके पश्चात् समस्त राज्यों और संघ में समतुल्यता प्राप्त कराने के लिए विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों के लिए इस प्रकार नियत किए गए सभी मतों के कुल मूल्यांक को संसद् के 776 सदस्यों में बराबर बांट दिया गया।

2002 के राष्ट्रपतीय निर्वाचन में अट्ठाईस राज्यों, राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली और पुडुचेरी की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों के लिए मतों का मूल्यांक 549474 निकला। इस संख्या को संसद् के 776 निर्वाचित सदस्यों में (जिनमें 543 लोक सभा के थे और 233 राज्य सभा के थे) बराबर बांट दिया गया। इस प्रकार एक संसद् सदस्य के मत का मूल्यांक 708.08 अर्थात् 708 नियत किया गया।

भारत के राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पदों के लिए जो निर्वाचन होते हैं वे राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952 और उसके अधीन बनाए गए नियमों के द्वारा विनियमित होते हैं। इन निर्वाचनों के प्रयोजन के लिए यह सुस्थापित प्रथा रही है कि लोक सभा के या राज्य सभा के महासचिव को रिटर्निंग ऑफिसर (निर्वाचन अधिकारी) नियुक्त किया जाता है और उनके साथ एक या अधिक सहायक रिटर्निंग ऑफिसर नियुक्त किए जाते हैं।

पहले (1952), तीसरे (1962), पांचवें (1969), सातवें (1977), नौवें (1987) और ग्यारहवें (1997) राष्ट्रपतीय निर्वाचनों के लिए लोक सभा के सचिव/महासचिव रिटर्निंग ऑफिसर नियुक्त किए गए थे। दूसरे (1957), चौथे (1967), छठे (1974), आठवें (1982), दसवें (1992) और बारहवें (2002) राष्ट्रपतीय निर्वाचनों के लिए राज्य सभा के सचिव/महासचिव को रिटर्निंग ऑफिसर नियुक्त किया गया था।

वर्ष 1997 में भारत के निर्वाचन आयोग ने लोक सभा के महासचिव को 11वें राष्ट्रपतीय निर्वाचन के लिए रिटर्निंग ऑफिसर नियुक्त किया जबकि इन निर्वाचनों के संबंध में स्थापित परम्परा के अनुसार, उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन के लिए राज्य सभा के महासचिव को रिटर्निंग ऑफिसर नियुक्त किया जाना था। तथापि, 14 जुलाई, 1997[7] को हुए उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन में भारत के निर्वाचन आयोग ने इस परम्परा से हटकर रिटर्निंग ऑफिसर के रूप में संसदीय कार्य मंत्रालय के सचिव को नियुक्त किया। तद्नुसार, संसदीय कार्य मंत्रालय के सचिव ने उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन की पूरी प्रक्रिया का संचालन किया और उक्त निर्वाचन में राज्य सभा के महासचिव अथवा राज्य सभा सचिवालय ने कोई भूमिका नहीं निभाई।

निर्वाचन आयोग द्वारा शासकीय राजपत्र में निर्वाचन के जो विभिन्न चरण अधिसूचित किए जाते हैं वे इस प्रकार हैं: (1) नामनिर्देशन करने की अन्तिम तारीख जो निर्वाचन की अधिसूचना के प्रकाशन की तारीख के पश्चात् चौदहवें दिन की तारीख होती है; (2) नामनिर्देशनों की संवीक्षा (जांच) की तारीख जो नामनिर्देशन करने की अन्तिम तारीख के ठीक बाद के दिन की तारीख होती है; (3) उम्मीदवारी (अभ्यर्थिता) वापस लेने की अंतिम तारीख जो नामनिर्देशनों की जांच के पश्चात् दूसरे दिन की तारीख होती है; और (4) वह तारीख जिसको मतदान, यदि आवश्यक हो, होता है और जो ऐसी तारीख होती है जो उम्मीदवारी वापस लेने की अंतिम तारीख के पश्चात् पन्द्रहवें दिन से पहले की तारीख नहीं होती है। यदि नामनिर्देशन करने या उनकी जांच करने या उम्मीदवारी वापस लेने की तारीख सार्वजनिक छुट्टी का दिन हो तो उसके ठीक अगले दिन की तारीख, जो सार्वजनिक छुट्टी का दिन नहीं होगा, इस प्रयोजन के लिए समुचित तारीख मानी जाती है।[8] राष्ट्रपति की पदावधि के अवसान से हुई रिक्ति को भरने के लिए होने वाले निर्वाचन की अधिसूचना पद छोड़ने वाले राष्ट्रपति की पदावधि के अवसान से पूर्व के साठवें दिन को या उसके पश्चात् सुविधापूर्वक जितनी शीघ्र निकाली जा सके निकाली जाती है, चाहे ऐसे निर्वाचन के समय किसी राज्य की विधान सभा भंग ही क्यों न रहे,[9] और तारीख ऐसे नियत की जाती है कि निर्वाचन ऐसे समय में पूरा हो जाए कि तद्द्वारा निर्वाचित राष्ट्रपति अपना पदग्रहण पद छोड़ने वाले राष्ट्रपति की पदावधि के अवसान के अगले दिन को कर सके। राष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग या पद से हटाए जाने अथवा अन्य कारण से हुई उसके पद की रिक्ति के भरे जाने की दशा में यह अपेक्षित है कि अधिसूचना को ऐसी रिक्ति के पश्चात् यथाशीघ्र निकाला जाए।[10]

1952 के अधिनियम में यह उपबंध किया गया है कि राष्ट्रपतीय निर्वाचन के लिए नामनिर्देशन-पत्र पर कम से कम पचास निर्वाचकों के प्रस्थापकों (प्रस्तावकों) के रूप में और कम से कम पचास निर्वाचकों के समर्थकों के रूप में हस्ताक्षर होने चाहिए और कोई निर्वाचक उसी निर्वाचन में, चाहे प्रस्तावक के रूप में या समर्थक के रूप में, एक से अधिक नामनिर्देशन-पत्र पर हस्ताक्षर नहीं करेगा।[11] उम्मीदवार के लिए यह भी आवश्यक है कि वह निर्वाचन के लिए सम्यक् रूप से नामनिर्दिष्ट समझे जाने के लिए पंद्रह हजार रुपए की राशि जमा करे,[12] राष्ट्रपति के पद के लिए चुनाव लड़ने का पात्र होने के लिए किसी उम्मीदवार को उस तरह से शपथ नहीं लेनी पड़ती या प्रतिज्ञान नहीं करना पड़ता जिस तरह से संसद् के चुनाव के लिए खड़े होने वाले उम्मीदवार के लिए आवश्यक है।[13]

अब तक अर्थात् 1952 से 2002 तक बारह राष्ट्रपतीय निर्वाचन हो चुके हैं। निम्नलिखित तालिका में इन निर्वाचनों के ब्यौरे-वार कार्यक्रम और साथ ही राष्ट्रपतियों द्वारा पदग्रहण की तारीखों का उल्लेख किया गया है:

तालिका

निर्वाचित उम्मीदवार का नाम	वर्ष	अधिसूचना की तारीख	नामनिर्देशन की अंतिम तारीख	छानबीन की तारीख	वापस लेने की अंतिम तारीख	मतदान की तारीख	गणना और घोषणा की तारीख	पदग्रहण की तारीख
1. डा॰ राजेन्द्र प्रसाद	1952	04/4/52	12/4/52	14/4/52	17/4/52	02/5/52	06/5/52	13/5/52
2. डा॰ राजेन्द्र प्रसाद	1957	06/4/57	16/4/57	17/4/57	20/4/57	06/5/57	10/5/57	13/5/57
3. डा॰ राधाकृष्णन्	1962	06/4/62	16/4/62	18/4/62	21/4/62	07/5/62	11/5/62	13/5/62
4. डा॰ ज़ाकिर हुसेन	1967	03/4/67	13/4/67	15/4/67	18/4/67	06/5/67	09/5/67	13/5/67
5. श्री वी॰ वी॰ गिरि	1969	14/7/69	24/7/69	26/7/69	29/7/69	16/8/69	20/8/69	24/8/69
6. श्री फखरुद्दीन अली अहमद	1974	16/7/74	30/7/74	31/7/74	02/8/74	17/8/74	20/8/74	24/8/74
7. श्री एन॰ संजीव रेड्डी	1977	04/7/77	18/7/77	19/7/77	21/7/77	06/8/77	21/7/77	25/7/77
8. ज्ञानी जैल सिंह	1982	09/6/82	23/6/82	24/6/82	26/6/82	12/7/82	15/7/82	25/7/82
9. श्री आर॰ वेंकटरामन्	1987	10/6/87	24/6/87	25/6/87	27/6/87	13/7/87	16/7/87	25/7/87
10. डा॰ शंकर दयाल शर्मा	1992	10/6/92	24/6/92	25/6/92	27/6/92	13/7/92	16/7/92	25/7/92
11. श्री के॰ आर॰ नारायणन	1997	09/6/97	23/6/97	24/6/97	26/6/97	14/7/97	17/7/97	25/7/97
12. डा॰ ए॰पी॰जे॰ अब्दुल कलाम	2002	11/6/02	25/6/02	26/6/02	28/6/02	15/7/02	18/7/02	25/7/02

अर्हताएं

जो व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र है उसे भारत का नागरिक होना चाहिए, उसकी आयु पैंतीस वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए, उसे लोक सभा का सदस्य होने के लिए अर्हित होना चाहिए और उसे भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी के नियंत्रण में किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद नहीं धारण करना चाहिए। इस प्रयोजन के लिए राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल का पद या संघ या किसी राज्य में मंत्री का पद लाभ का पद नहीं समझा जाता।[14] संसद् (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1959 की धारा 3 के अधीन सरकार के अधीन लाभ के कतिपय पदों को ऐसा पद घोषित किया गया है जिसको धारण करने वाला व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए अयोग्य नहीं होता। संसद् या किसी राज्य के विधान-मंडल के पीठासीन अधिकारियों सहित उनके सदस्य भी राष्ट्रपति के पद के लिए चुनाव लड़ सकते हैं किंतु यदि उनमें से कोई व्यक्ति राष्ट्रपति बन जाता है तो यह समझा जाता है कि उसने संसद् या विधान-मंडल में अपना स्थान राष्ट्रपति के रूप में अपने पदग्रहण की तारीख से रिक्त कर दिया है।[15]

1962 में डा॰ राधाकृष्णन्, 1967 में डा॰ ज़ाकिर हुसेन, 1987 में श्री आर॰ वेंकटरामन्, 1992 में डा॰ शंकर दयाल शर्मा और 1997 में श्री के॰ आर॰ नारायणन राष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचन में उम्मीदवार थे किंतु उन्होंने उपराष्ट्रपति के पद से इस्तीफा नहीं दिया। तथापि, 1969 में उपराष्ट्रपति, श्री वी॰ वी॰ गिरि और 1977 में लोक सभा अध्यक्ष श्री एन॰ संजीव रेड्डी ने राष्ट्रपतीय निर्वाचन के लिए नामनिर्देशन-पत्र दाखिल करने से पहले अपने-अपने पदों से इस्तीफा दे दिया था।

पदावधि

राष्ट्रपति अपने पदग्रहण की तारीख से पांच वर्ष की अवधि तक पद धारण करता है।[16] राष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी तब तक पद धारण करता है जब तक उसका उत्तराधिकारी अपना पदग्रहण नहीं कर लेता। कोई व्यक्ति, जो राष्ट्रपति के रूप में पद धारण करता है या कर चुका है, संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए उस पद के लिए पुनर्निर्वाचन का पात्र होता है।[17] राष्ट्रपति अपनी पदावधि के समाप्त होने से पूर्व अपने हस्ताक्षर से उपराष्ट्रपति को पत्र लिखकर पदत्याग कर सकता है। ऐसे पदत्याग की सूचना लोक सभा अध्यक्ष को तुरंत दे दी जानी चाहिए।

> राष्ट्रपति डा॰ ज़ाकिर हुसेन का निधन होने पर उपराष्ट्रपति श्री वी॰ वी॰ गिरि राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहे थे। श्री गिरि ने राष्ट्रपति को संबोधित पत्र के द्वारा उपराष्ट्रपति के पद से इस्तीफा दे दिया और, जैसाकि महान्यायवादी द्वारा सलाह दी गई थी, यह उल्लेख नहीं किया कि वे तब कौनसा पद धारण किए हुए थे और उन्होंने अपना इस्तीफा राष्ट्रपति के सचिवालय में रख दिया। इस्तीफे की प्रतियां प्रधान मंत्री और भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को सूचनार्थ भेज दी गईं। पत्र को उसी दिन राजपत्र में भी अधिसूचित कर दिया गया।[18] यह निर्णय हुआ कि इस्तीफा देना पद को छोड़ने की एक प्रक्रिया थी और राष्ट्रपति का पद धारण करने वाले व्यक्ति के वहां पर न होने पर भी उनका पद निरंतर विद्यमान था और संविधान के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि इस्तीफे को प्रभावी बनाने के लिए उसे स्वीकार किया जाए और कानून में इस संभावना की परिकल्पना की गई है कि उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के न होने पर भी इस्तीफा दे सकता है।[19]

महाभियोग

राष्ट्रपति को अपनी पदावधि के समाप्त होने के पहले भी संविधान का अतिक्रमण करने पर अपने पद से हटाया जा सकता है।[20] जब ऐसा करना होता है तब संसद् के किसी सदन द्वारा आरोप लगाया जाना आवश्यक है।[21] ऐसा कोई आरोप तब तक नहीं लगाया जा सकता जब तक कि–

(क) ऐसा आरोप लगाने की प्रस्थापना ऐसे संकल्प में अंतर्विष्ट नहीं है जो कम से कम चौदह दिन की ऐसी लिखित सूचना के दिए जाने के बाद प्रस्तावित किया गया है जिस पर उस सदन की कुल सदस्य-संख्या के कम से कम एक-चौथाई सदस्यों ने हस्ताक्षर करके उस संकल्प को प्रस्तावित करने का अपना आशय प्रकट किया है; और

(ख) उस सदन की कुल सदस्य-संख्या के कम से कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा ऐसा संकल्प पारित नहीं किया गया है।

जब आरोप संसद् के किसी सदन द्वारा इस प्रकार लगाया गया है तब दूसरा सदन उस आरोप का अन्वेषण करेगा या कराएगा और ऐसे अन्वेषण में उपस्थित होने का तथा अपना प्रतिनिधित्व कराने का राष्ट्रपति को अधिकार होगा। इस प्रकार के आरोप के अन्वेषण के लिए संसद् के किसी सदन द्वारा नियुक्त अथवा नामनिर्दिष्ट किसी न्यायालय, अधिकरण अथवा निकाय द्वारा राष्ट्रपति के आचरण का पुनर्विलोकन कराया जा सकता है।

यदि अन्वेषण के परिणामस्वरूप यह घोषित करने वाला संकल्प कि राष्ट्रपति के विरुद्ध लगाया गया आरोप सिद्ध हो गया है, आरोप का अन्वेषण करने या कराने वाले सदन की कुल सदस्य-संख्या के कम से कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित कर दिया जाता है तो ऐसे संकल्प का प्रभाव उसके इस प्रकार पारित किए जाने की तारीख से राष्ट्रपति को उसके पद से हटाना होगा।[22]

पद की शपथ

राष्ट्रपति द्वारा अपना पदग्रहण करने से पहले उसे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति या उसकी अनुपस्थिति में उच्चतम न्यायालय के उपलब्ध वरिष्ठतम न्यायाधीश द्वारा अनुच्छेद 60 में उल्लिखित प्ररूप के अनुसार पद की शपथ दिलाई जाती है।

राष्ट्रपति के रूप में कार्य करना या उसके कृत्यों का निर्वहन

संविधान में उपबंध किया गया है कि राष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग या पद से हटाए जाने या अन्य कारण से उसके पद में हुई रिक्ति की दशा में उपराष्ट्रपति उस तारीख तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा जिस तारीख को ऐसी रिक्ति को भरने के लिए नया राष्ट्रपति अपना पदग्रहण करता है और उसका निर्वाचन रिक्त होने की तारीख से छह महीने के भीतर किया जाना होगा।[23] संविधान में यह उपबंध भी किया गया है कि जब राष्ट्रपति अनुपस्थिति, बीमारी या अन्य किसी कारण से अपने कृत्यों का निर्वहन करने में असमर्थ हो तब उपराष्ट्रपति उस तारीख तक उसके कृत्यों का निर्वहन करेगा जिस तारीख को राष्ट्रपति अपने कर्त्तव्यों को फिर से संभालता है।[24] तथापि, संविधान में उन मामलों के बारे में कोई उल्लेख नहीं किया गया है जहां राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति दोनों के पदों में रिक्ति हो जाती है या जहां राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा या उसके कृत्यों का निर्वहन कर रहा उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य करने या उसके कृत्यों का निर्वहन करने में असमर्थ हो जाता है। अत: संविधान के द्वारा संसद् को ऐसे उपबंध बनाने की शक्ति प्रदान की गई है जिन्हें वह संविधान में उपबंधित न की गई किसी आकस्मिक स्थिति में राष्ट्रपति के कृत्यों के निर्वहन के लिए उपयुक्त समझे।[25] तद्नुसार, संसद् ने राष्ट्रपति (कृत्यों का निर्वहन) अधिनियम, 1969 बनाया जिसके अधीन ऐसे मामलों में भारत का मुख्य न्यायमूर्ति या उसकी अनुपस्थिति में उच्चतम न्यायालय का वरिष्ठतम न्यायाधीश राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करेगा।

> उपराष्ट्रपति श्री वी॰ वी॰ गिरि राष्ट्रपति डा॰ जाकिर हुसेन के निधन के कारण राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहे थे। जब उन्होंने 20 जुलाई, 1969 के पूर्वाह्न से उपराष्ट्रपति के पद से त्यागपत्र दे दिया तब भारत के मुख्य न्यायमूर्ति श्री एम॰ हिदायतुल्लाह ने उक्त तारीख के पूर्वाह्न से राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन किया।[26]

संसद् के संबंध में शक्तियां और कृत्य

संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को संसद् के संबंध में कई शक्तियां प्रदान की गई हैं। वह समय-समय पर संसद् के प्रत्येक सदन को आहूत करता है और समय-समय पर सदनों या किसी सदन का सत्रावसान कर सकता है और लोक सभा का विघटन कर सकता है।[27] राष्ट्रपति लोक सभा के लिए प्रत्येक साधारण निर्वाचन के बाद के प्रथम सत्र के आरंभ में और प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के आरंभ में एक साथ समवेत संसद् के दोनों सदनों में अभिभाषण करता है और संसद् को उसके आह्वान के कारण बताता है।[28] उसे संसद् के किसी एक सदन में या एक साथ समवेत दोनों सदनों में अभिभाषण करने का भी अधिकार है। वह सदन में उस समय लंबित किसी विधेयक से संबंधित संदेश या कोई अन्य संदेश संसद् के किसी भी सदन को भेज सकता है।[29]

राष्ट्रपति कतिपय परिस्थितियों में राज्य सभा का अस्थाई सभापति[30] या लोक सभा का अस्थाई अध्यक्ष[31] नियुक्त करता है। संसद् के प्रत्येक सदन के सदस्य को अपना स्थान ग्रहण करने से पहले राष्ट्रपति या उसके द्वारा इस निमित्त नियुक्त व्यक्ति के समक्ष शपथ लेनी पड़ती है या प्रतिज्ञान करना पड़ता है।[32] राष्ट्रपति साहित्य, विज्ञान, कला और समाज-सेवा जैसे विषयों में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव रखने वाले

बारह व्यक्तियों को राज्य सभा के लिए नामनिर्देशित करता है।[33] यदि राष्ट्रपति की यह राय हो कि लोक सभा में आंग्ल-भारतीय (ऐंग्लो-इंडियन) समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है तो वह लोक सभा में उस समुदाय के दो से अनधिक सदस्य नामनिर्देशित कर सकता है।[34] राष्ट्रपति अनुच्छेद 102 के अंतर्गत किसी संसद्-सदस्य के निरर्हता से ग्रस्त होने के प्रश्न का भी निर्णय करता है।[35]

धन विधेयक के अलावा किसी अन्य विधेयक पर दो सदनों के बीच असहमति होने पर राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक आहूत कर सकता है।[36] राष्ट्रपति ने राज्य सभा के सभापति और लोक सभा के अध्यक्ष से परामर्श करने के पश्चात् (1) दोनों सदनों की संयुक्त बैठक से संबंधित और उनमें परस्पर संवाद से संबंधित[37] और (2) संसद् के प्रत्येक सदन के सचिवीय कर्मचारिवृन्द में भर्ती का और नियुक्त व्यक्तियों की सेवा का विनियमन करने वाले नियम बनाए हैं। तथापि, सचिवीय कर्मचारिवृन्द से संबंधित नियम संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि के अधीन रहते हुए प्रभावी होते हैं।[38]

निम्नलिखित विषयों के संबंध में राष्ट्रपति की सिफारिश आवश्यक है: (1)वित्तीय मामलों के संबंध में विधेयकों का पुर:स्थापन और संशोधनों का उपस्थित किया जाना;[39] (2) नए राज्यों के गठन या विद्यमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं या नामों के परिवर्तन से संबंधित विधेयकों का पुर:स्थापन;[40] (3) ऐसे कराधान पर, जिसमें राज्य हितबद्ध है, प्रभाव डालने वाले विधेयक का पुर:स्थापन या संशोधन का उपस्थित किया जाना;[41] और (4) ऐसे विधेयक पर विचार करना जिसे अधिनियमित और प्रवर्तित किए जाने पर भारत की संचित निधि में से व्यय करना पड़े।[42]

जब कोई विधेयक संसद् के सदनों द्वारा पारित कर दिया जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किया जाता है। राष्ट्रपति विधेयक पर अनुमति देता है या अनुमति रोक लेता है। यदि विधेयक धन विधेयक नहीं है तो वह उसे सदनों को इस संदेश के साथ लौटा सकता है कि वे विधेयक पर या उसके किन्हीं विनिर्दिष्ट उपबंधों पर पुनर्विचार करें और विशिष्टतया किन्हीं ऐसे संशोधनों के पुर:स्थापन पर विचार करें जिनकी उसने अपने संदेश में सिफारिश की है। जब विधेयक इस प्रकार लौटा दिया जाता है तब सदन विधेयक पर तद्नुसार विचार करते हैं। यदि विधेयक सदनों द्वारा संशोधन सहित या उसके बिना फिर से पारित कर दिया जाता है तो राष्ट्रपति उस पर अनुमति नहीं रोक सकता।[43]

राष्ट्रपति प्रत्येक वित्तीय वर्ष के संबंध में संसद् के दोनों सदनों के समक्ष भारत सरकार के उस वर्ष के लिए प्राक्कलित प्राप्तियों और व्यय का विवरण (अर्थात् बजट)[44] और जब भी आवश्यक हो अनुपूरक और अतिरिक्त अनुदानों को दर्शाने वाला विवरण (और लोक सभा में अधिक अनुदानों को दर्शाने वाला विवरण)[45] रखवाता है। वह संवैधानिक कृत्य करने वाले अधिकारियों या निकायों जैसे भारत के नियंत्रक-महालेखापरीक्षक,[46] वित्त आयोग,[47] संघ लोक सेवा आयोग,[48] अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयुक्त,[49] पिछड़ा वर्ग आयोग[50] और भाषाई अल्पसंख्यक-वर्ग आयोग[51] के प्रतिवेदन भी संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखवाता है।

उस समय को छोड़कर जब संसद् के दोनों सदन सत्र में हों, यदि किसी समय राष्ट्रपति इस बात से संतुष्ट हो जाता है कि ऐसी परिस्थितियां विद्यमान हैं जिनके कारण तुरंत कार्रवाई करना उनके लिए आवश्यक हो गया है तो वह ऐसे अध्यादेश प्रख्यापित कर सकता है जो उसे उन परिस्थितियों में अपेक्षित प्रतीत हों। इस प्रकार प्रख्यापित अध्यादेश का वही बल और प्रभाव होता है जो संसद् के किसी अधिनियम का होता है और उसे संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखना आवश्यक होता है। किंतु वह संसद् के पुन: समवेत होने से छह सप्ताह की समाप्ति पर, या यदि उस अवधि की समाप्ति से पहले दोनों सदन उसके निरनुमोदन का संकल्प पारित कर देते हैं तो इनमें से दूसरे संकल्प के पारित होने पर, प्रवर्तन में नहीं रहता है। राष्ट्रपति द्वारा उसे किसी भी समय वापस लिया जा सकता है।[52]

यदि राष्ट्रपति इस बात से संतुष्ट हो जाता है कि गंभीर आपात विद्यमान है जिससे युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से भारत या उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है[53] या किसी राज्य में संवैधानिक तंत्र विफल हो गया है[54] या ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे भारत या उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व या साख संकट में है[55] तो वह इस आशय की उद्घोषणा करता है। ये उद्घोषणाएं संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखनी पड़ती हैं और उनके द्वारा उद्घोषणाओं का अनुमोदन न किए जाने पर वे प्रवर्तन में नहीं रहती हैं।

सभा में प्रक्रियागत प्रतिबंध

सभा में बोलते हुए सदस्यों को जिन नियमों का पालन करना होता है उनमें से एक नियम यह है कि किसी सदस्य को वाद-विवाद को प्रभावित करने के लिए राष्ट्रपति का नाम नहीं लेना चाहिए।[56] एक और नियम किसी सदस्य द्वारा उच्च प्राधिकार वाले व्यक्तियों के आचरण पर आक्षेप करने का निषेध करता है। राष्ट्रपति उन व्यक्तियों में से एक है जिसके आचरण पर संविधान के अधीन समुचित शब्दावली वाले मौलिक प्रस्ताव पर अर्थात् महाभियोग द्वारा ही चर्चा की जा सकती है। एक नियम यह भी है कि कोई प्रश्न ऐसे व्यक्ति के चरित्र या आचरण पर आक्षेप नहीं करेगा जिसके आचरण को मौलिक प्रस्ताव पर ही चुनौती दी जा सकती है।

> वित्त विधेयक, 1970 पर चर्चा के दौरान एक सदस्य ने राष्ट्रपति के नाम का उल्लेख किया। उपसभाध्यक्ष ने टिप्पणी की कि राष्ट्रपति के आचरण पर चर्चा नहीं की जानी चाहिए। जब एक अन्य सदस्य ने राष्ट्रपति के पद और राष्ट्रपति की व्यक्तिगत हैसियत के बीच विभेद करने का प्रयास किया और यह कहा कि राष्ट्रपति की जो व्यक्तिगत हैसियत है उसके संबंध में उनकी आलोचना करने के लिए वह स्वतंत्र है तब उपसभाध्यक्ष ने अन्य बातों के साथ निर्णय दिया ''... यदि मैं यह फैसला दूं कि जब तक कोई व्यक्ति वह पद धारण करता है तब तक वह व्यक्ति और उसका पद अलग-अलग है तो मैं समझता हूं कि यह बहुत खतरनाक पूर्वोदाहरण होगा। इसीलिए जब तक कोई व्यक्ति राष्ट्रपति के पद पर है तब तक हमें राष्ट्रपति का नाम लेकर उनके आचरण पर चर्चा नहीं करनी चाहिए।''[57]

अत: उपरोक्त नियमों का उद्देश्य राष्ट्रपति की संस्था को आदर और सम्मान देना है और राष्ट्रपति के पद को विवाद से परे रखना है।

तथापि, ऐसे कई उदाहरण हैं और कई अवसर आए हैं जब राज्य सभा में राष्ट्रपति से संबंधित मामले उठाए गए हैं और ऐसे अवसरों पर कभी-कभी संवैधानिक पहलुओं से संबंधित अथवा कभी राष्ट्रपति के पद या उसकी व्यक्तिगत हैसियत से संबंधित मामले उठाए गए हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:

> राष्ट्रपति डा॰ राजेन्द्र प्रसाद ने नवम्बर, 1960 में भारतीय विधि संस्थान में एक भाषण दिया था जिसमें उन्होंने वकीलों से कहा कि वे इसका वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करें कि भारत के राष्ट्रपति की शक्तियां और कृत्य ब्रिटेन के राजा या रानी की शक्तियों और कृत्यों से कहां तक और किन-किन मामलों में भिन्न-भिन्न हैं। एक सदस्य ने राष्ट्रपति के अभिभाषण पर हो रही चर्चा के दौरान बोलते हुए कहा कि राष्ट्रपति को ऐसे मामले को नहीं उठाना चाहिए था क्योंकि उससे अत्यंत गंभीर राजनैतिक विवादों के उत्पन्न होने की संभावना है। गृह मंत्री ने इस पर पूछा कि क्या सभा राष्ट्रपति द्वारा अन्यत्र दिए गए किसी वक्तव्य पर या राष्ट्रपति द्वारा उस रूप में किए गए किसी कार्य पर चर्चा कर सकती है। इस पर उपसभापति ने, जो उस समय पीठासीन थे, यह निर्णय दिया: ''राष्ट्रपति ने अन्यत्र जो कुछ कहा है उससे हमारा सरोकार नहीं है और आप यहां उस पर चर्चा नहीं कर सकते और न कोई आक्षेप कर सकते हैं।''[58]
>
> 13 मार्च, 1987 को सवेरे दिल्ली से निकलने वाले एक समाचार-पत्र ने राष्ट्रपति द्वारा प्रधान मंत्री को लिखे गए पत्र का कथित मूलपाठ प्रकाशित किया। उस दिन सभापति ने विपक्ष के तीन सदस्यों को सभा में इस विषय का उल्लेख करने की अनुमति दी।[59] 17 मार्च, 1987 को इस मामले को पुन: उठाया गया और तब सभापति ने यह सूचना दी कि वे मामले का गहराई से अध्ययन करेंगे।[60] 20 मार्च, 1987 को सभापति ने विपक्ष के

विभिन्न समूहों के नेताओं को अपने-अपने विचार व्यक्त करने की अनुमति दी और उसके बाद इस प्रश्न पर एक विस्तृत निर्णय दिया कि क्या राज्य के प्रमुख द्वारा सरकार के प्रमुख को किसी मामले पर लिखे गए या कथित रूप से लिखे गए पत्र या सरकार के प्रमुख द्वारा राज्य के प्रमुख को लिखे गए या कथित रूप से लिखे गए पत्र में कही गई बातों को संसद् के सदनों में उठाया जा सकता है। यह निर्णय देते हुए सभापति ने संविधान सभा के वाद-विवादों से उद्धरण दिए और उच्चतम न्यायालय के निर्णयों और हाउस ऑफ कॉमन्स में प्रचलित प्रथा का उल्लेख किया। सभापति ने ''संविधान के सुस्पष्ट उपबंधों, पृष्ठभूमि और दर्शन को देखते हुए हाउस ऑफ कॉमन्स में इसी तरह की स्थिति को देखते हुए और इस संबंध में परंपराओं के विकास को देखते हुए'' इस मामले पर चर्चा कराने की सदस्यों की मांग को स्वीकार नहीं किया।[61]

13 सितम्बर, 1991 को प्रश्न काल के आरंभ में एक सदस्य ने इस बात का उल्लेख किया कि राष्ट्रपति ने राष्ट्रपति भवन में अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के एक प्रतिनिधिमंडल से मिलने से इन्कार किया और यह भी कहा कि इस अपमान के कारण वे उस दिन संसद् के दोनों सदनों की कार्यवाही का बहिष्कार कर रहे हैं।[62] अगले दिन इस मामले को पुन: उठाया गया। यद्यपि कुछ विचार व्यक्त किए गए तथापि एक स्थिति ऐसी आई जब उपसभाध्यक्ष ने यह कहा, ''हम राष्ट्रपति के बारे में चर्चा नहीं कर सकते... हमारी परंपरा यही है।''[63]

9 मई, 1984 को एक सदस्य ने 29 अप्रैल, 1984 के 'संडे ऑब्ज़र्वर' में तत्कालीन राष्ट्रपति के बारे में छपे ''एक अत्यंत मानहानिकारक वक्तव्य'' की ओर सभा का ध्यान दिलाया और मांग की कि राष्ट्र के अध्यक्ष को बदनाम करने के कारण उसके लेखक, मुद्रक और प्रकाशक के विरुद्ध कार्यवाही की जाए। सभा के नेता ने अन्य बातों के साथ कहा: ''हमें यह देखना होगा कि विद्यमान कानून के दायरे के भीतर क्या-क्या करना संभव है। यदि हम यह पाते हैं कि वह पर्याप्त नहीं है तो निश्चित रूप से इस उच्च पद की प्रतिष्ठा और गरिमा की रक्षा करने के लिए कुछ न कुछ करना पड़ेगा। यदि यह पाया गया कि वर्तमान कानूनी व्यवस्था पर्याप्त नहीं है तो हमें यहां तक कि कानून बनाने और अधिनियम बनाने की भी बात सोचनी होगी।''[64] बाद में सदस्य ने पत्रिका के विरुद्ध विशेषाधिकार भंग की सूचना दी क्योंकि लेख में सदस्य के बारे में भी आपत्तिजनक बातें थीं। इस मामले को विशेषाधिकार समिति को सौंपा गया और इस समिति का कहना था कि हालांकि संबंधित सदस्य का विशेषाधिकार भंग नहीं हुआ है: ''लेखक ने राष्ट्रपति की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की अवमानना की है और उसे लांछित किया है। हर व्यक्ति को ऐसे कार्य की और ऐसे लेख की घोर निंदा करनी चाहिए।'' समिति को इस संबंध में कोई संदेह नहीं था कि सरकार सभा के नेता के कथन के अनुसार लेखक आदि के विरुद्ध समुचित कार्यवाही अवश्य करेगी।[65]

एक राजनैतिक दल के किसी कार्यकर्ता द्वारा दिए गए कथित वक्तव्य के संदर्भ में राष्ट्रपति पर व्यक्तिगत आक्षेप का मामला सदन में एक बार फिर उठा। यह वक्तव्य एक समाचार पत्र में ''ज़ैल पार्ट ऑफ ए प्लॉट टु डिस्टेबिलाइज गवर्नमेंट'' (सरकार को अस्थिर करने के षड्यंत्र में ज़ैल शामिल हैं) शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित हुआ था। सभापति ने इस मामले को विशेषाधिकार समिति को सौंपते हुए उसे यह निदेश दिया कि वह अन्य बातों के साथ विशेष रूप से संविधान के अनुच्छेद 79 के दायरे की जांच करे और यह बताए कि क्या राष्ट्रपति पर किए आक्षेप संसद् की संस्था की प्रतिष्ठा को गिराने वाले कहे जा सकते हैं और क्या कथित टिप्पणियां प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संसद् की संस्था को बदनाम करती हैं और सदन के विशेषाधिकार को भंग करती हैं। समिति ने इस मामले पर ब्रिटेन, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया के बारे में सूचना प्राप्त की और महान्यायवादी की राय भी ली। महान्यायवादी की राय थी कि संविधान के अनुच्छेद 105(3) की शब्दावली के अनुसार विशेषाधिकार इस रूप में संसद् को प्रदान नहीं किए गए हैं बल्कि वे सिर्फ संसद् के प्रत्येक सदन को, सदन के सदस्यों को और प्रत्येक सदन की समितियों को प्रदान किए गए हैं। संसद् के घटक के रूप में राष्ट्रपति को इस प्रकार कोई शक्तियां, विशेषाधिकार या उन्मुक्तियां प्रदान नहीं की गई हैं। तथापि, समिति ने उन मुद्दों पर कोई राय नहीं दी जो उसे सौंपे गए थे। चूंकि इस मामले को समिति को सौंपे हुए चार वर्ष हो चुके थे और इन चार वर्षों में परिस्थितियां बदल गई थीं इसलिए समिति ने सिफारिश की कि मामले को समाप्त समझा जाए।[66]

अभिभाषण के दौरान व्यवधान

18 फरवरी, 1963 को राष्ट्रपति के अभिभाषण के दौरान राज्य सभा के एक सदस्य ने व्यवधान किया और वह केन्द्रीय कक्ष से बाहर चले गए। अगले दिन सदन के सभी सदस्यों ने इस घटना पर खेद प्रकट

किया और उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि सदन की भावनाओं को राष्ट्रपति तक पहुंचा दिया जाए और सभापति द्वारा ऐसा किया गया। सभापति को लिखे गए एक पत्र में राष्ट्रपति ने भी राज्य सभा की भावनाओं की सराहना की।[67]

23 मार्च, 1971 को पुन: राज्य सभा के तीन सदस्यों ने राष्ट्रपति के अभिभाषण के बीच व्यवधान उत्पन्न किया। 7 अप्रैल, 1971 को राज्य सभा ने एक प्रस्ताव पर विचार किया जिसमें संबंधित सदस्यों के ''अवांछनीय, अमर्यादित और अशोभनीय आचरण'' की निन्दा की गई थी। तथापि, चर्चा अधूरी ही रही और वह पुन: आरंभ नहीं हुई।[68]

सदनों के पारस्परिक संबंध

संविधान में परिकल्पना की गई है कि दोनों सदनों की हैसियत और स्थिति समान है। दोनों सदनों को उन क्षेत्रों के अंतर्गत कार्य करना होता है जो संविधान के अधीन उनके लिए नियत किए गए हैं। यद्यपि लोक सभा को कतिपय मामलों में कतिपय विशेष शक्तियां दी गई हैं तथापि राज्य सभा को भी कतिपय प्रकार की विशेष शक्तियां प्रदान की गई हैं। लोक सभा के पास तीन विशेष शक्तियां हैं जो सिर्फ उसी को प्राप्त हैं, और वे इस प्रकार हैं कि मंत्रि-परिषद् लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है,[69] अनुदानों की मांगें लोक सभा के समक्ष रखी जाती हैं और लोक सभा को यह शक्ति है कि वह किसी मांग को अनुमति दे या अनुमति देने से इंकार कर दे अथवा किसी मांग को, उसमें विनिर्दिष्ट रकम को कम करके, अनुमति दे[70] और कोई धन संबंधी विधेयक या धन संबंधी खंडों वाला विधेयक राज्य सभा में पुर:स्थापित नहीं किया जा सकता या दूसरे शब्दों में ऐसा विधेयक केवल लोक सभा में ही पुर:स्थापित किया जा सकता है।[71]

दूसरी ओर राज्य सभा के पास भी तीन विशेष शक्तियां हैं जो सिर्फ उसी को प्राप्त हैं। ये शक्तियां संविधान के अनुच्छेद 249, 312, 352, 356 और 360 में निहित हैं। अनुच्छेद 249 के अधीन राज्य सभा उपस्थित और मत देने वाले कम से कम दो-तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा यह घोषित कर सकती है कि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक या समीचीन है कि संसद् राज्य सूची में उल्लिखित ऐसे विषय के संबंध में जो उस संकल्प में विशेष रूप से निर्दिष्ट है, कानून बनाए। राज्य सभा अनुच्छेद 312 के अधीन एक या एक से अधिक अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन के लिए इसी प्रकार का संकल्प पारित कर सकती है। अनुच्छेद 352, 356 और 360 के अधीन लोक सभा के भंग रहने के दौरान राज्य सभा आरंभ में उद्घोषणाओं का अनुमोदन कर सकती है और बाद में उनकी अवधि बढ़ा सकती है।

इन मामलों को छोड़कर दोनों सदनों के बीच पूर्ण समानता है। संविधान के उपबंधों के अनुसार अनेक पत्रों को दोनों सदनों के सभा पटल पर रखना आवश्यक है। इनमें से विशेष रूप से उल्लेखनीय पत्र इस प्रकार हैं: बजट, अनुदानों की अनुपूरक मांगें, राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए अध्यादेश और उद्घोषणाएं और भारत के नियंत्रक-महालेखापरीक्षक, वित्त आयोग, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त, पिछड़ा वर्ग आयोग, भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के आयुक्त और संघ वित्त आयोग जैसे संवैधानिक अधिकारियों और आयोगों के प्रतिवेदन[72]। दोनों सदन राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन, राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने तथा उपराष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय अथवा किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को उसके पद से हटाने के मामलों में भी भाग लेते हैं।[73]

इसके अतिरिक्त दोनों सदनों के पारस्परिक संबंधों को निर्धारित करने वाले नियम राष्ट्रपति द्वारा संविधान के अनुच्छेद 118(3) के अनुसरण में राज्य सभा के सभापति और लोक सभा के अध्यक्ष से परामर्श करने के पश्चात् बनाए जाते हैं। ये नियम दोनों सदनों की संयुक्त बैठकों और उनमें परस्पर संवाद की प्रक्रिया के संबंध में होते हैं।[74]

दोनों सदनों के बीच संवाद

सदनों के बीच संवाद एक सदन से दूसरे सदन को एक लिखित संदेश द्वारा होता है जिस पर महासचिव के हस्ताक्षर होते हैं। यदि सदन का सत्र चल रहा हो तो संबंधित महासचिव संदेश के प्राप्त होने के बाद प्रथम सुविधाजनक अवसर पर सदन को उसकी सूचना देता है। यदि सदन का सत्र नहीं चल रहा हो, तो संसदीय समाचार (बुलेटिन) में एक पैरा द्वारा सदस्यों को संदेश के बारे में सूचित किया जाता है। संदेश की विषय-वस्तु पर प्रक्रिया तथा कार्य-संचालन विषयक नियमों के अनुसार कार्यवाही की जाती है।[75]

संदेशों की सूचना देने के अवसर विधेयकों, प्रस्तावों और संकल्पों के संबंध में उत्पन्न होते हैं। विधेयकों के संबंध में राज्य सभा द्वारा निम्नलिखित स्थितियों में लोक सभा को संदेश भेजे जाते हैं:

(1) राज्य सभा में पुर:स्थापित और पारित विधेयक लोक सभा को उसकी सहमति के लिए पहुंचाया जाता है।[76]

(2) लोक सभा को उसकी सहमति के लिए भेजा गया विधेयक संशोधन के साथ राज्य सभा को लौटा दिया जाता है और राज्य सभा संशोधन को स्वीकार करती है या नहीं करती है या आगे और संशोधन करने का या वैकल्पिक संशोधन का प्रस्ताव करती है।[77]

(3) लोक सभा में आरंभ हुए और पारित हुए और राज्य सभा को पहुंचाए गए विधेयक को राज्य सभा संशोधन के बिना या संशोधन सहित पारित करती है।[78]

(4) लोक सभा द्वारा पारित किसी विधेयक को राज्य सभा संशोधन सहित उस सदन को लौटा देती है और लोक सभा राज्य सभा द्वारा किए गए संशोधन से सहमत नहीं होती या और संशोधन करने का प्रस्ताव करती है और राज्य सभा लोक सभा में मूलत: पारित रूप में विधेयक पर सहमत हो जाती है या लोक सभा द्वारा और संशोधित रूप में विधेयक पर सहमत हो जाती है या ऐसे संशोधन या संशोधनों के लिए आग्रह करती है जिस पर या जिन पर लोक सभा सहमत नहीं है।[79]

(5) लोक सभा द्वारा पारित किसी धन विधेयक को कोई संशोधन किए बिना या संशोधनों की सिफारिश सहित उस सदन को लौटा दिया जाता है।[80]

निम्नलिखित प्रकार के प्रस्तावों और संकल्पों संबंधी सन्देश भी दूसरे सदन में भेजे जाते हैं:

(1) ऐसा प्रस्ताव जो यह चाहता हो कि लोक सभा द्वारा पारित और राज्य सभा में लंबित विधेयक को वापस लिया जाए।[81]

(2) किसी विधेयक को सभाओं की संयुक्त समिति को सौंपने वाला प्रस्ताव जो समिति में सेवा के लिए लोक सभा के सदस्यों के नामों पर सहमति और उन नामों की सूचना देने के लिए हो।[82]

(3) संयुक्त समिति के प्रतिवेदन को प्रस्तुत करने के लिए समय बढ़ाने की सूचना देने वाला प्रस्ताव।[83]

(4) संयुक्त समिति में कार्य कर रहे लोक सभा सदस्यों की मृत्यु, पदत्याग या अन्यथा होने वाली रिक्तियों को भरने के लिए लोक सभा से सदस्यों को नियुक्त करने का अनुरोध करने वाला प्रस्ताव।

(5) लोक लेखा समिति, लोक उपक्रम समिति, रेलवे अभिसमय समिति और अन्य संयुक्त संसदीय समितियों में कार्य करने के लिए राज्य सभा के सदस्यों के नाम भेजना।

(6) किसी नियम, विनियम (कानूनी लिखत) आदि में किए गए संशोधन जिस पर लोक सभा की सहमति चाहिए।

(7) राष्ट्रपति के शासन के अधीन किसी राज्य के संबंध में राज्य विधान-मंडल (शक्तियों का प्रत्यायोजन) अधिनियम के अधीन बनाए गए ''राष्ट्रपति के अधिनियम'' में संशोधन करने वाला संकल्प, जिस पर लोक सभा की सहमति चाहिए।

सदनों की संयुक्त बैठक

भारत के संविधान में धन विधेयक या संविधान संशोधन विधेयक से भिन्न किसी विधेयक के संबंध में दोनों सदनों के बीच असहमति होने पर उसके समाधान की परिकल्पना की गई है। धन विधेयक के संबंध में राज्य सभा की शक्तियां लोक सभा द्वारा पारित विधेयक को सिर्फ 14 दिन की अवधि तक अपने पास रखने या विलंबित करने और विधेयक में ऐसा संशोधन या ऐसे संशोधन करने तक ही सीमित हैं जिसे या जिन्हें लोक सभा द्वारा स्वीकार किया जा सकता है या नहीं भी किया जा सकता है। संविधान संशोधन विधेयक के मामले में यदि दोनों सदन अनुच्छेद 368 के अनुसार समान शब्दावली में उसे पारित नहीं करते तो विधेयक समाप्त हो जाता है।

जब धन विधेयक या संविधान संशोधन विधेयक से भिन्न विधेयक एक सदन द्वारा पारित कर दिया जाता है और दूसरे सदन द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है या विधेयक में किए जाने वाले संशोधनों के बारे में दोनों सदन अंतिम रूप से असहमत हो जाते हैं या दूसरे सदन को विधेयक प्राप्त होने की तारीख से उसके द्वारा विधेयक पारित किए बिना छह मास से अधिक बीत गए हैं या उस दशा के सिवाय जिसमें लोक सभा का विघटन होने के कारण विधेयक व्यपगत हो गया है, राष्ट्रपति विधेयक पर विचार-विमर्श करने और मत देने के प्रयोजन के लिए सदनों को संयुक्त बैठक में अधिवेशित होने के लिए आहूत करने के आशय की सूचना, यदि वे बैठक में हैं तो संदेश द्वारा या यदि वे बैठक में नहीं हैं तो लोक अधिसूचना द्वारा देता है।[84]

जब राष्ट्रपति सदनों को संयुक्त बैठक में अधिवेशित होने के लिए आहूत करने के अपने आशय की सूचना देता है तो कोई भी सदन विधेयक पर आगे कार्यवाही नहीं करेगा और राष्ट्रपति तत्पश्चात् सदनों को संयुक्त बैठक में अधिवेशित होने के लिए आदेश जारी कर सकेगा।[85] सदनों की संयुक्त बैठक में अधिवेशित होने के लिए आहूत करने के अपने आशय की राष्ट्रपति की सूचना के पश्चात् लोक सभा का विघटन बीच में हो जाने पर भी संयुक्त बैठक हो सकेगी और उसमें विधेयक पारित हो सकेगा।[86]

लोक सभा का महासचिव संयुक्त बैठक के महासचिव के रूप में कार्य करता है और लोक सभा और राज्य सभा के प्रत्येक सदस्य को आह्वान जारी करता है जिसमें संयुक्त बैठक के लिए राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित समय और स्थान विनिर्दिष्ट होता है।[87] लोक सभा का अध्यक्ष और उसकी अनुपस्थिति में लोक सभा का उपाध्यक्ष और यदि वह भी अनुपस्थित हो तो राज्य सभा का उपसभापति और यदि वह भी अनुपस्थित हो तो अन्य ऐसा व्यक्ति, जो बैठक में उपस्थित सदस्यों द्वारा अवधारित किया जाए, संयुक्त बैठक का सभापतित्व करता है।[88] संयुक्त बैठक में लोक सभा की प्रक्रिया ऐसे परिवर्तनों और रूपभेदों के साथ लागू होती है जिन्हें अध्यक्ष आवश्यक या समुचित समझे। अध्यक्ष इसका भी निर्धारण करता है कि संयुक्त बैठक किस दिन किस समय तक के लिए स्थगित की जाएगी। संयुक्त बैठक की गणपूर्ति दोनों सदनों की कुल सदस्य-संख्या की एक-दहाई से होती है।[89]

यदि संयुक्त बैठक में उसे सौंपा गया विधेयक ऐसे संशोधनों सहित, यदि कोई हों, जिन पर संयुक्त बैठक में सहमति हो जाती है, दोनों सदनों के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की कुल संख्या के बहुमत द्वारा पारित हो जाता है तो संविधान के प्रयोजनों के लिए वह दोनों सदनों द्वारा पारित किया गया समझा जाता है।

किसी संयुक्त बैठक में ऐसे संशोधनों से भिन्न (यदि कोई हों), जो विधेयक के पारित होने में देरी के कारण आवश्यक हो गए हैं, विधेयक में किसी और संशोधन का प्रस्ताव नहीं किया जा सकता और इस प्रकार पारित और लौटा दिए गए विधेयक में केवल पूर्वोक्त संशोधन और ऐसे अन्य संशोधनों का, जो उन विषयों से सुसंगत हैं जिन पर सदनों में सहमति नहीं हुई है, प्रस्ताव किया जा सकेगा। पीठासीन व्यक्ति का इस बारे में निर्णय अंतिम होता है कि कौन-से संशोधन ग्राह्य हैं।[90] संयुक्त बैठक में अध्यक्ष अथवा उस रूप में कार्य करने वाला व्यक्ति प्रथमत: मत नहीं देगा किंतु मत बराबर होने की दशा में उसका निर्णायक मत होगा और वह उसका प्रयोग करेगा।[91]

अब तक हुईं संयुक्त बैठकें

संयुक्त बैठक के लिए पहला अवसर तब आया जब दहेज प्रतिषेध विधेयक, 1959 में किए जाने वाले कतिपय संशोधनों के संबंध में दोनों सदनों के बीच सहमति नहीं हुई। राज्य सभा ने लोक सभा द्वारा यथापारित विधेयक में निम्नलिखित तीन संशोधन किए:

(1) विधेयक के खंड 2 में दहेज की परिभाषा इस प्रकार थी: ''कोई संपत्ति या मूल्यवान प्रतिभूति जो विवाह के एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को या दोनों में से किसी पक्ष के माता-पिता द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा दोनों पक्षों में से किसी को विवाह पर या उसके पूर्व या बाद में किसी अन्य व्यक्ति को विवाह के लिए प्रतिफल के रूप में दी गई हो या जिसे देने के लिए करार हो गया हो।'' राज्य सभा ने इस परिभाषा में ''प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से'' शब्दों को जोड़ दिया जिससे दहेज का अर्थ अन्य बातों के साथ इस प्रकार हो गया। ''कोई संपत्ति या मूल्यवान प्रतिभूति जो ... विवाह के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिफल के रूप में दी गई हो या जिसे देने के लिए करार हो गया हो।''

(2) दूसरे संशोधन द्वारा राज्य सभा ने खंड 2 के स्पष्टीकरण 1 को हटा दिया जिसमें घोषणा की गई थी कि विवाह के समय पर नकदी, आभूषण आदि के रूप में दिए गए किन्हीं उपहारों को, जब तक वे विवाह का प्रतिफल न बनाए गए हों, दहेज नहीं समझा जाएगा।

(3) विधेयक के खंड 4 में छह महीने तक के कारावास का दंड या पांच हजार रुपये तक के जुर्माने या दोनों का उपबंध था। राज्य सभा के संशोधन द्वारा इस खंड को हटा दिया गया था।[92]

लोक सभा ने इन संशोधनों पर विचार किया किंतु वह इनमें से किसी संशोधन पर सहमत नहीं हुई[93] और उसने तद्नुसार राज्य सभा को एक संदेश भेजा।[94] लोक सभा ने विधेयक को लौटाते हुए विधेयक के अधिनियमन सूत्र और खंड 1 में औपचारिक परिवर्तन भी किए और उन पर राज्य सभा की सहमति के लिए अनुरोध किया।

राज्य सभा ने अपने संशोधनों पर पुनर्विचार किया और लोक सभा द्वारा किए गए औपचारिक संशोधनों पर विचार किया।[95] संशोधनों पर विचार के प्रस्ताव के स्वीकृत होने के बाद विधि मंत्री ने प्रस्ताव किया कि सदन खंड 2 और 4 के संशोधनों पर आग्रह नहीं करता (तीनों संशोधनों के बारे में तीन अलग-अलग प्रस्ताव उपस्थित किए गए) और वह लोक सभा द्वारा किए गए दो संशोधनों से सहमत है। यद्यपि संशोधनों से संबंधित प्रस्ताव अस्वीकृत हो गए तथापि लोक सभा के औपचारिक संशोधनों से संबंधित प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।[96] तद्नुसार लोक सभा को दो संदेश भेजे गए। पहले संदेश में यह सूचित किया गया था कि राज्य सभा लोक सभा द्वारा किए गए संशोधनों से सहमत है और दूसरे में यह सूचित किया गया था कि राज्य सभा ने उसके द्वारा किए गए संशोधनों पर, जिनसे लोक सभा सहमत नहीं हुई थी, आग्रह किया है।[97] इस प्रकार यह समझा गया कि दोनों सदन संशोधनों पर अंतिम रूप से असहमत हो गए हैं[98] जिससे अनुच्छेद 108 के उपबंध के अनुसार कार्यवाही आवश्यक हो गई है।

अत: राष्ट्रपति ने विधेयक पर विचार-विमर्श करने और मतदान करने के प्रयोजन के लिए राज्य सभा और लोक सभा को संयुक्त बैठक में अधिवेशित होने के लिए आहूत करने के अपने आशय की सूचना दी। सभापति ने राष्ट्रपति का संदेश सदन तक पहुंचाया।[99] तद्नुसार 6 और 9 मई, 1961 को संसद् के केन्द्रीय कक्ष में संयुक्त बैठकें हुईं और 9 मई को विधेयक इस प्रकार पारित किया गया कि खंड 2 के संशोधन (अर्थात् दहेज की परिभाषा में ''प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से'' शब्दों का अंत:स्थापन) को स्वीकार कर लिया गया और उसी खंड में उसके स्पष्टीकरण को हटा देने संबंधी संशोधन अस्वीकृत हो गया। खंड 4 का लोप कर दिए जाने से संबंधित तीसरे संशोधन पर संयुक्त बैठक में सहमति नहीं हुई किंतु इस खंड में यह परंतुक जोड़ दिया गया कि राज्य सरकार या उसके विनिर्दिष्ट प्राधिकारी की पूर्व मंजूरी के बिना न्यायालय किसी अपराध का संज्ञान नहीं कर सकेंगे। औपचारिक संशोधनों को भी स्वीकार किया गया और यथासंशोधित विधेयक पारित किया गया।[100]

दूसरा अवसर तब आया जब राज्य सभा ने बैंककारी सेवा आयोग (निरसन) विधेयक, 1977 को अस्वीकार कर दिया। 8 दिसम्बर, 1977 को राज्य सभा में लोक सभा द्वारा यथासंशोधित विधेयक पर विचार करने का प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया और इस आशय का एक संदेश लोक सभा को भेजा गया। राष्ट्रपति ने विधेयक पर विचार-विमर्श करने और मतदान करने के प्रयोजन के लिए राज्य सभा और लोक सभा को संयुक्त बैठक में अधिवेशित होने के लिए आहूत करने के अपने आशय की सूचना दी, सभापति ने सदन को राष्ट्रपति के इस संदेश की सूचना दी।[101] तद्नुसार, 16 मई, 1978 को संसद् के केन्द्रीय कक्ष में एक संयुक्त बैठक हुई और उसमें यथासंशोधित विधेयक पारित हुआ।[102]

तीसरा अवसर हाल ही में तब आया जब राज्य सभा ने 21 मार्च, 2002[103] की अपनी बैठक में एक सदस्य द्वारा उपस्थित किए गए परिनियत संकल्प को गृहीत किया जिसमें 30 दिसम्बर, 2001 को राष्ट्रपति द्वारा प्रख्यापित आतंकवाद निवारण (दूसरा) अध्यादेश, 2001 का निरनुमोदन किया गया है और गृह मंत्री द्वारा उपस्थित किए गए तथा लोक सभा द्वारा यथापारित आतंकवाद निवारण विधेयक, 2002 पर विचार करने का प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया। राज्य सभा द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिए जाने के पश्चात् इस आशय का संदेश लोक सभा को भेज दिया।

विधेयक के लोक सभा द्वारा पारित होने और राज्य सभा द्वारा अस्वीकृत होने के कारण संविधान के अनुच्छेद 108 के खण्ड (क) का उपबंध लागू हुआ। राष्ट्रपति ने विधेयक पर विचार-विमर्श करने और मतदान करने के प्रयोजनार्थ राज्य सभा और लोक सभा की संयुक्त बैठक आहूत करने के अपने आशय की अधिसूचना जारी की जिसकी सूचना राज्य सभा को संसदीय कार्य मंत्री द्वारा दी गई।

सभापति ने 22 मार्च, 2002[104] को राष्ट्रपति के संदेश की घोषणा सभा में की। तद्नुसार, 26 मार्च, 2002 को संसद् के केन्द्रीय कक्ष में दोनों सभाओं की संयुक्त बैठक हुई और विधेयक, लोक सभा द्वारा पारित रूप में, पारित किया गया। जैसाकि अनुच्छेद 108 की शब्दावली से पता चलता है, संयुक्त बैठक बुलाने का उपबंध केवल एक समर्थकारी उपबंध है जो राष्ट्रपति को सदनों के बीच विधायी गतिरोध को दूर करने के लिए कदम उठाने की शक्ति प्रदान करता है। राष्ट्रपति उक्त उपबंध का प्रयोग करने के लिए बाध्य नहीं है। इसके अलावा यह उपबंध दूसरे सदन को किसी विधेयक को छह महीने व्यतीत होने के बाद पारित करने से नहीं रोकता बशर्ते वह लोक सभा के विघटन के कारण व्यपगत नहीं हुआ हो या राष्ट्रपति संयुक्त बैठक बुलाने के अपने आशय की सूचना न दे चुका हो। ऐसे उदाहरण हैं जब संसद् के किसी सदन

ने आरंभकर्ता सदन से विधेयक प्राप्त होने के छह महीने बाद विधेयक को पारित किया। ऐसे विधेयकों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:

> लोक प्रतिनिधित्व (दूसरा संशोधन) विधेयक, 1964 (27 नवम्बर, 1964 को लोक सभा द्वारा और 2 सितम्बर, 1965 को राज्य सभा द्वारा पारित); भांडागारण निगम (अनुपूरक) विधेयक, 1964 (27 नवम्बर, 1964 को लोक सभा द्वारा और 6 सितम्बर, 1965 को राज्य सभा द्वारा पारित); वास्तुविद् (संशोधन) विधेयक, 1980 (3 दिसम्बर, 1980 को राज्य सभा द्वारा और 29 अप्रैल, 1982 को लोक सभा द्वारा पारित); विक्रय संवर्द्धन कर्मचारी (सेवा की शर्तें) संशोधन विधेयक, 1980 (11 दिसम्बर, 1980 को राज्य सभा द्वारा और 16 अक्तूबर, 1982 को लोक सभा द्वारा पारित); विशेष न्यायालय (निरसन) विधेयक, 1980 (19 अगस्त, 1981 को राज्य सभा द्वारा और 29 जुलाई, 1982 को लोक सभा द्वारा पारित); गोदी कर्मकार (सुरक्षा, स्वास्थ्य तथा कल्याण) विधेयक, 1986 (2 दिसम्बर, 1985 को लोक सभा द्वारा और 10 नवम्बर, 1986 को राज्य सभा द्वारा पारित); निरसन और संशोधन विधेयक, 1986 (28 जुलाई, 1986 को राज्य सभा द्वारा और 23 फरवरी, 1988 को लोक सभा द्वारा पारित); भ्रष्टाचार निवारण विधेयक, 1987 (7 मई, 1987 को लोक सभा द्वारा और 11 अगस्त, 1988 को राज्य सभा द्वारा पारित)।

प्रथा और प्रक्रिया द्वारा पारस्परिक संबंध

संवैधानिक उपबंधों के अलावा, दोनों सदनों के बीच स्वस्थ और निर्बाध संबंधों के विकास में प्रक्रिया विषयक नियमों का भी योगदान है। उदाहरण के लिए इनमें से एक नियम जिसका किसी सदस्य को सदन में बोलते हुए पालन करना पड़ता है यह है कि उसे दूसरे सदन के कार्य-संचालन और कार्यवाहियों के बारे में (और अपने ही सदन के कार्य-संचालन और कार्यवाहियों के बारे में भी) अपमानजनक शब्दावली का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[105]

> अगस्त, 1977 में जब लोक सभा ने वित्त विधेयक में एक संशोधन के लिए राज्य सभा द्वारा की गई सिफारिश को अस्वीकार कर दिया[106] तब एक सदस्य ने लोक सभा के रवैये की आलोचना करने के लिए कुछ तीखे शब्दों का प्रयोग किया किंतु उसने शुरू में ही यह कहकर लोक सभा की गरिमा के बारे में सावधानी बरती: ''...हम इस तथ्य को पूरी तरह से जानते हैं कि संविधान वित्त विधेयकों या धन विधेयकों के संबंध में लोक सभा को, जो प्रत्यक्ष रूप से चुना गया निकाय है, एक विशेष हैसियत प्रदान करता है। श्रीमन्, इसलिए मैं इस संबंध में जो कुछ कह रहा हूं उससे सामूहिक रूप से लोक सभा के सदस्यों की बात तो दरकिनार, लोक सभा या उसकी प्रतिष्ठा और गरिमा पर किसी तरह से कोई आंच नहीं पहुंचती।[107]

एक अन्य नियम में यह उपबंध किया गया है कि किसी सदस्य द्वारा दूसरे सदन के किसी सदस्य के विरुद्ध ऐसा कोई आरोप नहीं लगाया जाना चाहिए जो मानहानिकारक हो या अभियोगात्मक हो,[108] यह परंपरा भी है कि किसी सदन के किसी सदस्य का नाम लेकर दूसरे सदन में उसकी आलोचना नहीं की जानी चाहिए और इस बारे में पूरी सावधानी बरती जानी चाहिए कि दूसरे सदन के सदस्य के बारे में कोई टीका-टिप्पणी नहीं की जाए।

> एक बार, एक सदस्य ने लोक सभा के किसी सदस्य के विरुद्ध कतिपय आरोप लगाए। सभापति ने आरोप लगाने वाले सदस्य से कहा कि वह अपने आरोपों को प्रमाणित करे। इसके बाद सभापति ने मामले को समाप्त करते हुए अन्य बातों के साथ यह भी कहा: ''...जो सदस्य अपने आरोपों को सिद्ध करने की स्थिति में नहीं हैं उन्हें ऐसे वक्तव्य नहीं देने चाहिए...आरोपों और प्रत्यारोपों से संसद् की गरिमा को ठेस पहुंचती है...मैं यह भी कहना चाहूंगा कि यह एक अच्छा नियम होगा कि एक सदन के सदस्य दूसरे सदन के सदस्यों के विरुद्ध अपने सदन में आरोप लगाने के लिए भाषण की स्वतंत्रता के अधिकार का उपयोग नहीं करेंगे।''[109]
>
> एक सदस्य ने विनियोग विधेयक, 1970 पर हो रही चर्चा में भाग लेने के दौरान लोक सभा के कतिपय सदस्यों के नाम लिए और आरोप लगाया कि ऐसी अफवाहें हैं कि ये सदस्य संसद् के सदस्यों को खरीदने का प्रयास

कर रहे हैं।[110] अगले दिन जब मामला पुन: उठाया गया तो उपसभापति ने यह संबंधित सदस्य पर छोड़ दिया कि वह अपनी आपत्तिजनक टिप्पणियों को वापस लें। उपसभापति ने यह भी कहा कि यदि वह अपनी टिप्पणियों को वापस नहीं लेंगे और आरोप सही नहीं होंगे तो किसी भी सदस्य को यह आजादी है कि वह सभा के प्रक्रिया और कार्य-संचालन विषयक नियमों के अनुसार अगला कदम उठाए।[111] जब तीसरे दिन भी मामले को उठाया गया तब उपसभापति ने कहा कि संबंधित सदस्य ने जो टिप्पणियां की हैं वे अनुचित हैं।[112] लोक सभा में भी यह मामला उठा।[113] इसके बाद लोक सभा के अध्यक्ष ने इस मामले की ओर ध्यान दिलाते हुए सभापति को एक पत्र लिखा जिसमें अन्य बातों के साथ यह कहा गया था: ''आप इस बात से सहमत होंगे कि किसी सदन के सदस्यों के लिए यह वांछनीय नहीं है कि वे अपने सदन में दूसरे सदन के सदस्यों पर आरोप लगाएं या उन पर आक्षेप करें।'' अपने उत्तर में सभापति ने अध्यक्ष के साथ सहमति प्रकट की और उन्हें सूचित किया कि उपसभापति यह टिप्पणी कर चुके हैं कि सदस्य ने आरोप लगाकर अनुचित कार्य किया है।[114]

एक और ऐसा अवसर आया जब राज्य सभा के हाल में हुए द्विवार्षिक चुनावों में धनबल के प्रयोग के गंभीर आरोपों से संबंधित ध्यानाकर्षण पर हो रही चर्चा के दौरान एक सदस्य ने दूसरे सदन के सदस्य के नाम का उल्लेख किया। इस पर सभापति ने टिप्पणी की:

> ''...यह उचित नहीं है कि उन लोगों का नाम लिया जाए जो यहां पर अपना बचाव करने के लिए उपस्थित नहीं हैं। विशेषत: उन व्यक्तियों के प्रति यह न्यायोचित नहीं है जो दूसरे सदन के सदस्य हैं। ...उन पर आक्षेप करना उचित नहीं है।''

सभापति ने यह सूचना भी दी कि उन्हें अध्यक्ष से एक पत्र प्राप्त हुआ है। अत: सभापति ने सदस्यों से आग्रह किया कि दूसरे सदन के सदस्यों के नाम इस तरह से न लिए जाएं जिससे कटुता पैदा हो या उन पर किसी तरह कोई आक्षेप हो।[115]

एक अन्य अवसर पर राज्य सभा के एक सदस्य ने लोक सभा में किसी विधेयक के विरुद्ध मतदान के संबंध में सदस्यों को रिश्वत देने का आरोप लगाते हुए सदन में कुछ टिप्पणियां कीं।[116] यह मामला लोक सभा में उठाया गया।[117] अध्यक्ष ने इस संबंध में सभापति को एक पत्र लिखा। अध्यक्ष के पत्र के उत्तर में सभापति ने अन्य बातों के साथ निम्नलिखित टिप्पणी की:

> ''मेरा हमेशा से यह मत रहा है कि एक सदन के सदस्यों को सदन के भीतर या बाहर दूसरे सदन के सदस्यों पर आरोप नहीं लगाने चाहिए और आक्षेप नहीं करने चाहिए। राज्य सभा में सभापीठ ने किसी भी सदस्य के ऐसे आचरण को हमेशा अनुचित बताया है।''[118]

कोई सदस्य दूसरे सदन में हुए वाद-विवाद का हवाला नहीं दे सकता।[119] दूसरे सदन में दिए गए सरकारी वक्तव्यों का उल्लेख करने की अनुमति देने के लिए इस नियम में ढील दी जाती है।[120]

इसी प्रकार किसी चालू सत्र के दौरान राज्य सभा में किसी प्रश्न के उत्तर में दूसरे सदन में दिए गए किसी प्रश्न के उत्तर या उस सदन की कार्यवाही का उल्लेख नहीं किया जा सकता।[121]

इस प्रकार वाद-विवाद के इन नियमों का उद्देश्य यह है कि दोनों सदन एक दूसरे के प्रति व्यवहार में संयम बरतें, एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रदर्शित करें, एक दूसरे की स्वतंत्रता को स्वीकार करें ताकि दोनों सदनों की कार्यवाही की पवित्रता और गरिमा बनी रहे।

जब महासचिव ने सभा में लोक सभा से प्राप्त एक संदेश पढ़कर सुनाया जिसमें सूचित किया गया था कि बोफोर्स संबंधी संयुक्त संसदीय समिति के प्रतिवेदन को प्रस्तुत करने की अवधि बढ़ा दी गई है तब विपक्ष के कुछ सदस्यों ने, जिन्होंने पूर्व सूचना दी थी, अपनी बात पेश करनी चाही। उपसभापति ने इसकी अनुमति नहीं दी और अपनी व्यवस्था देते हुए अन्य बातों के साथ यह भी कहा कि ऐसे किसी संदेश पर चर्चा करने या उसमें कही गई बातों पर टिप्पणी करने की कोई परिपाटी नहीं है। इस व्यवस्था में कई कारण दिए गए जिनमें से एक कारण यह था कि यह दूसरे सदन का संदेश है और कोई ऐसी बात नहीं कही जानी चाहिए जिससे दूसरे सदन के किसी निर्णय पर, जो संदेश द्वारा सूचित किया गया हो, कोई आक्षेप किया जाए। उन्होंने यह भी कहा कि सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए समिति अध्यक्ष के निदेश और नियंत्रण के अधीन कार्य कर रही है और इसलिए समिति के कार्यकरण पर की गई किसी टिप्पणी का अर्थ स्वयं अध्यक्ष पर आक्षेप होगा, चाहे वह अप्रत्यक्ष रूप से किया गया आक्षेप ही क्यों न हो।[122]

तथापि, एक अवसर पर जब वित्त विधेयक, 1978 पर राज्य सभा की सिफारिश को अस्वीकार करने के संबंध में लोक सभा के संदेश की सूचना दी गई थी तब एक सदस्य ने कुछ टिप्पणियां कीं किंतु यह कहकर सावधानी बरती कि उसने जो कुछ कहा है उसे लोक सभा की प्रतिष्ठा या गरिमा पर आक्षेप नहीं माना जाना चाहिए।[123]

प्रधान मंत्री द्वारा लोक सभा में विरोधी दलों के बारे में की गई कतिपय टिप्पणियों का मुद्दा राज्य सभा में उठाते हुए कुछ सदस्य यह चाहते थे कि इन टिप्पणियों पर चर्चा करने के लिए प्रश्न-काल को स्थगित कर दिया जाना चाहिए। तथापि, सभापति ने यह व्यवस्था देते हुए इसकी अनुमति नहीं दी कि यह एक सुस्थापित परिपाटी है कि दूसरे सदन में कही गई किसी बात पर राज्य सभा में चर्चा नहीं होगी।[124]

जब कुछ सदस्य एक ऐसे मंत्री द्वारा, जो राज्य सभा के सदस्य थे, लोक सभा के अध्यक्ष को गिरफ्तार करने की कथित धमकी के मामले को उठाना चाहते थे तब उपसभापति ने इसकी अनुमति नहीं दी क्योंकि मामला दूसरे सदन से संबंधित था।[125]

तथापि, 24 जुलाई, 1989 को राज्य सभा में लगभग पांच घंटों तक लोक सभा में विपक्ष के सदस्यों के इस्तीफे को लेकर एक तरह की बहस होती रही।

इसके अलावा, संसदीय कार्य-प्रणाली में कुछ ऐसी आंतरिक व्यवस्था है जिससे राज्य सभा और लोक सभा के पारस्परिक संबंधों में आने वाली कठिनाइयों और समस्याओं का निराकरण होता है। यह आंतरिक व्यवस्था अंशत: संविधान पर आधारित है और अंशत: प्रथाओं और परंपराओं से विकसित हुई है। विधायी क्षेत्र में विरोध का समाधान करने की जो संवैधानिक व्यवस्था है उसका उल्लेख किया जा चुका है। प्रत्येक सदन को, उनके सदस्यों को और उनकी समितियों को समान शक्तियां, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां प्राप्त हैं। सदन में प्रश्नों का उत्तर देने के लिए मंत्रियों की बारी नियत करने के मामले में यह सावधानी बरती जाती है कि एक ही मंत्री को दोनों सदनों में एक ही दिन को और एक ही समय पर उपस्थित न होना पड़े। परंपरा के अनुसार लोक लेखा समिति, लोक उपक्रम समिति, रेलवे अभिसमय समिति, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति कल्याण संबंधी समिति, लाभ के पदों संबंधी समिति, वेतन और भत्ता समिति और 24 विभाग-संबंधित संसदीय स्थायी समितियों जैसी अनेक समितियों में लोक सभा और राज्य सभा के सदस्यों की संख्या 2:1 के अनुपात में नियत की जाती है।

सदनों के बीच विवाद

उपरोक्त से विदित होगा कि संविधान के उपबंध, प्रक्रिया विषयक नियम और परंपराएं यह दर्शाती हैं कि दोनों सदनों के बीच तालमेल है। तथापि, प्रारंभिक वर्षों में विवादों या टकरावों के कुछ ऐसे अवसर आए जिनसे ऐसा प्रतीत होता था कि दोनों सदनों में पारस्परिक संबंधों में कटुता आ गई है या दोनों के बीच क्षोभ या तनाव उत्पन्न हो गया है। वित्तीय मामलों में, विशेषाधिकार के मामलों में और वित्तीय समितियों के गठन के मामले में भी ऐसे विवाद उत्पन्न हुए। किंतु ऐसे विवादों को एक दूसरे के दृष्टिकोण पर ध्यान देने और एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की भावना के साथ सुलझाया गया जैसाकि निम्नलिखित मामलों में स्पष्ट होगा:

(क) *आय-कर संशोधन विधेयक*

पहला विवाद 29 अप्रैल, 1953 को हुआ जब राज्य सभा ने भारतीय आय-कर (संशोधन) अधिनियम, 1953 को विचारार्थ लिया जिसे अध्यक्ष ने धन विधेयक के रूप में प्रमाणित किया था। यह मुद्दा उठाया गया कि क्या वह धन विधेयक है और यह तर्क दिया गया कि सदन, विधेयक को अध्यक्ष को निर्देश के लिए वापस भेजने के लिए और उन परिस्थितियों की जांच करने के लिए सक्षम है जिनके अधीन विधेयक को धन विधेयक के रूप में प्रमाणित किया गया है। तत्कालीन विधि मंत्री, श्री सी॰ सी॰ बिस्वास, जो सभा के

नेता भी थे, ने इन मुद्दों का उत्तर देते हुए अन्य बातों के साथ यह कहा कि उपलब्ध सूचना के अनुसार दूसरे सदन के सचिवालय ने विधेयक को संभवत: एक धन विधेयक समझा और अध्यक्ष के सामने इसी रूप में रखा और अध्यक्ष ने उसके साथ एक प्रमाण-पत्र संलग्न कर दिया जैसाकि संविधान के अधीन अपेक्षित है। अत: उन्होंने सुझाव दिया कि इस बात की जानकारी प्राप्त की जा सकती है कि क्या यह प्रमाण-पत्र औपचारिक रूप से दिया गया था या वह तब दिया गया था जब यह प्रश्न उठाया गया था कि वह धन विधेयक नहीं है।[126] अगले दिन अर्थात् 30 अप्रैल, 1953 को लोक सभा में विधि मंत्री द्वारा राज्य सभा में की गईं इन टिप्पणियों पर आपत्ति की गई। लोक सभा में इन टिप्पणियों को ''नितांत अनुचित और अध्यक्ष की गरिमा के प्रतिकूल'' कहा गया। पीठासीन अधिकारी ने कहा कि इस मामले को अगले दिन विचारार्थ रखा जा सकता है जब विधि मंत्री सदन (लोक सभा) में उपस्थित होंगे।[127]

विधि मंत्री से लोक सभा में उपस्थित होने के लिए कहे जाने का मुद्दा 1 मई, 1953 को राज्य सभा में उठाया गया और कुछ चर्चा होने के बाद राज्य सभा ने एक सदस्य द्वारा उपस्थित किया गया निम्नलिखित संकल्प स्वीकृत किया:

> ''इस सभा का मत है कि सभा के नेता को यह निदेश दिया जाए कि भारतीय आय-कर (संशोधन) विधेयक, 1953 पर अध्यक्ष द्वारा पृष्ठांकित प्रमाण-पत्र के बारे में सभा के नेता के कथन के संदर्भ में पंडित ठाकुर दास भार्गव द्वारा उठाए जाने वाले मामले पर जब लोक सभा में चर्चा हो रही हो तब वे उस सदन में किसी भी हैसियत से उपस्थित न हों''।[128]

इसी के साथ-साथ राज्य सभा के सचिव ने लोक सभा के सचिव को एक संदेश भेजा जिसके साथ सभापति और सभा के नेता के वक्तव्यों की एक-एक प्रति और सभा द्वारा स्वीकृत संकल्प की प्रति भी संलग्न थी, सभापति ने अपने वक्तव्य में **अन्य बातों के साथ** यह कहा:

> यह किसी का आशय नहीं था, कम-से-कम सभा के नेता का तो कतई आशय नहीं था कि अध्यक्ष की ईमानदारी और निष्पक्षता पर आक्षेप हो। इस सभा में हमारी उत्कट इच्छा है कि हम अध्यक्ष की गरिमा और दूसरे सदन के विशेषाधिकारों की उसी प्रकार से रक्षा करने का भरसक प्रयास करें जिस प्रकार से हम दूसरे सदन द्वारा अपने हितों और विशेषाधिकारों की रक्षा किए जाने की आशा करते हैं।

सभा के नेता ने अन्य बातों के साथ कहा कि जो कुछ उन्होंने कहा था उसमें उन्होंने अध्यक्ष पर न तो कोई आक्षेप किया और न ऐसा करने का उनका कोई आशय था। उन्होंने कहा कि ''मैं उपाध्यक्ष के निमंत्रण पर लोक सभा में शिष्टता के नाते न कि किसी संवैधानिक बाध्यता के कारण जाऊंगा और अच्छे आचरण का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए मुझे वहां जाना चाहिए।[129] अत: सभापति ने सुझाव दिया कि मामले पर आगे चर्चा करने की शायद आवश्यकता नहीं है।

यद्यपि लोक सभा में पंडित ठाकुर दास भार्गव द्वारा उठाए जाने वाले मामलों पर आगे कार्यवाही छोड़ दी गई तथापि संविधान के अंतर्गत विधि मंत्री की स्पष्ट जिम्मेदारी को देखते हुए राज्य सभा द्वारा पारित संकल्प के औचित्य को चुनौती दी गई।[130]

चूंकि इस घटना से ''संसद् के कार्य की सामान्य शांति में कुछ व्यवधान उत्पन्न हुआ'' इसलिए प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने सारी स्थिति को स्पष्ट करते हुए राज्य सभा में एक वक्तव्य दिया। अन्य बातों के साथ उन्होंने निम्नलिखित उद्गार व्यक्त किए:

> संविधान के अनुसार संसद् दो सदनों से मिलकर बनती है और दोनों सदन उस क्षेत्र के भीतर कार्य करते हैं जो इस संविधान के द्वारा उन्हें सौंपा गया है। हमें जो प्राधिकार मिले हैं वे इसी संविधान से मिले हैं। कभी-कभी हम ब्रिटेन की संसद् के सदनों में प्रचलित प्रथाओं और परंपराओं का हवाला देते हैं और यहां तक कि निम्न सदन और उच्च सदन की बात करते हैं जोकि गलत है। मैं नहीं समझता कि यह सही है। ब्रिटेन की संसद् की प्रक्रिया का हवाला देना भी हमेशा उपयोगी नहीं है क्योंकि वहां की प्रक्रिया सैकड़ों सालों के

दौरान विकसित हुई है और वह मूलत: राजा की सत्ता के विरुद्ध संघर्ष के परिणामस्वरूप और कालांतर में हाउस ऑफ कॉमन्स और हाउस ऑफ लॉर्ड्स के बीच संघर्ष के परिणामस्वरूप विकसित हुई है। हमारे यहां ऐसी कोई ऐतिहासिक पृष्ठभूमि नहीं है हालांकि संविधान के निर्माण में हमने दूसरों के अनुभव से लाभ उठाया है। अत: हमारा पथ-प्रदर्शक हमारा अपना संविधान होना चाहिए जिसमें राज्य सभा और लोक सभा के कृत्यों को स्पष्ट रूप से विनिर्दिष्ट किया गया है। इनमें से किसी सदन को निम्न सदन कहना और किसी को उच्च सदन कहना सही नहीं है। संविधान की सीमाओं के भीतर प्रत्येक सदन को अपनी प्रक्रिया को विनियमित करने का पूरा अधिकार है। संसद् का गठन एक ही सदन से नहीं होता। भारत की संसद् दोनों ही सदनों से मिलकर बनती है।

हमारा संविधान या कोई भी लोकतांत्रिक ढांचा तभी सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है जब दोनों सदनों के बीच घनिष्ठतम सहयोग हो। वे वास्तव में एक ही ढांचे के भाग हैं और यदि सहयोग और एक दूसरे के दृष्टिकोण पर समुचित ध्यान देने की इस भावना में कोई कमी आएगी तो उससे कठिनाइयां उत्पन्न होंगी और हमारे संविधान के समुचित कार्यकरण में बाधा पहुंचेगी। अत: यह ... खेद की बात है कि दोनों सदनों के बीच संघर्ष की कोई भावना उत्पन्न हो। हमारे द्वारा शुरू किए गए राष्ट्र-निर्माण के महान प्रयोग की सफलता में रुचि रखने वाले लोगों का यह सर्वोच्च कर्त्तव्य है कि वे दोनों के बीच घनिष्ठ सहयोग और सम्मान का वातावरण बनाएं। दोनों सदनों के बीच कोई संवैधानिक अंतर नहीं हो सकता क्योंकि अंतिम सत्ता स्वयं संविधान ही है। कतिपय वित्तीय मामलों को छोड़कर जो एकमात्र लोक सभा की परिधि में आते हैं, संविधान के सामने दोनों सदन एक समान हैं। ये मामले क्या हैं इसका अंतिम रूप से निर्णय करना अध्यक्ष का काम है।[131]

विधि मंत्री ने प्रधान मंत्री के वक्तव्य से स्वयं को सम्बद्ध करते हुए इस घटना के लिए खेद प्रकट किया और क्षमा याचना की। उन्होंने लोक सभा में भी क्षमा याचना की।[132] इस प्रकार अंतत: इस घटना का पटाक्षेप हुआ।

(ख) *अन्य वित्तीय विधेयक*

एक अन्य अवसर पर अनुच्छेद 117(1) के अधीन वित्तीय विधेयकों के संबंध में राज्य सभा में पुन: कुछ मुद्दे उठाए गए। प्रमुख पत्तन न्यास विधेयक, 1963 को लोक सभा ने दोनों सदनों की संयुक्त समिति को नहीं बल्कि अपनी प्रवर समिति को सौंपा। जब यह विधेयक राज्य सभा में विचार के लिए पेश हुआ तब यह मुद्दा उठाया गया कि राज्य सभा को समिति से सम्बद्ध नहीं किया गया है। परिवहन मंत्री ने यह मत व्यक्त किया कि चूंकि अध्यक्ष द्वारा यह व्यवस्था दी गई है कि अनुच्छेद 117(1) के अधीन किसी विधेयक को संयुक्त समिति को नहीं सौंपा जा सकता इसलिए इस विधेयक को लोक सभा की प्रवर समिति को ही भेजा गया है। वित्तीय मामलों में राज्य सभा के अधिकारों के बारे में कुछ चर्चा हुई। किन्तु विधेयक को बिना किसी देरी के पारित करने की आवश्यकता के कारण मामले को आगे नहीं बढ़ाया गया परन्तु राज्य सभा ने अपने अधिकार पर जोर देने के लिए विधेयक को अपनी प्रवर समिति को यह निर्देश देते हुए सौंपा कि वह तीन दिनों के भीतर अपना प्रतिवेदन दे।[133]

ऐसी ही स्थिति राज्य सभा में पुन: उत्पन्न हुई जब लोक सभा द्वारा यथापारित बैंककारी विधियां (संशोधन) विधेयक, 1968 सभा में विचारार्थ पेश हुआ। लोक सभा ने इस विधेयक को सदनों की संयुक्त समिति को नहीं बल्कि अपनी प्रवर समिति को सौंपा था। राज्य सभा में सदस्यों ने प्रमुख पत्तन न्यास विधेयक के पूर्वोदाहरण का उल्लेख करते हुए तर्क पेश किया कि विधेयक संयुक्त समिति को सौंपा जाना चाहिए था।[134] संबंधित मंत्री ने कहा कि चूंकि विधेयक में संविधान के अनुच्छेद 110 में विनिर्दिष्ट मामले आते हैं इसलिए वह संयुक्त समिति को नहीं सौंपा गया। तथापि, उन्होंने विधेयक को प्रवर समिति को सौंपने के सदन के अधिकार को माना जिसके लिए एक सदस्य ने संशोधन पेश किया था। तद्नुसार विधेयक को राज्य सभा की प्रवर समिति को सौंपा गया।[135]

(ग) *विशेषाधिकार का प्रश्न (श्री एन॰ सी॰ चटर्जी का मामला)*

11 मई, 1954 को एक सदस्य ने यह आरोप लगाते हुए राज्य सभा में विशेषाधिकार का प्रश्न उठाया कि राज्य सभा में विचाराधीन विशेष विवाह विधेयक के संबंध में लोक सभा के सदस्य श्री एन॰ सी॰ चटर्जी ने

बम्बई में किए गए सार्वजनिक भाषण में राज्य सभा के बारे में यह टिप्पणी की थी कि ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च सदन जिसे वयोवृद्ध व्यक्तियों का निकाय माना जाता है, छोकरों के गिरोह की तरह गैर-जिम्मेदार ढंग से आचरण कर रहा है और ऐसी टिप्पणी करके श्री चटर्जी ने राज्य सभा की कार्यवाही पर आक्षेप किया है।[136] श्री चटर्जी ने राज्य सभा के सचिव द्वारा उन्हें जारी की गई एक सूचना (नोटिस) के कारण उत्पन्न होने वाले विशेषाधिकार के प्रश्न को लोक सभा में उठाया।[137] इस प्रश्न को कि एक सदन के सदस्य द्वारा दूसरे सदन का विशेषाधिकार भंग किए जाने पर कौन-सी प्रक्रिया अपनायी जानी चाहिए, दोनों सदनों की विशेषाधिकार समितियों की एक संयुक्त बैठक को सौंपा गया।[138] इन समितियों ने ऐसे मामलों में एक स्वीकार्य प्रक्रिया बनायी।[139]

(घ) *लोक लेखा समिति में प्रतिनिधित्व*

दोनों सदनों के पारस्परिक संबंधों के बीच कटुता उत्पन्न होने का एक और उदाहरण है। यह कटुता तब उत्पन्न हुई जब राज्य सभा ने यह चाहा कि लोक लेखा समिति दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति हो और साथ ही लोक सभा की प्राक्कलन समिति में भी उसका प्रतिनिधित्व हो।

राज्य सभा की नियम समिति ने 24 दिसम्बर, 1952 को सभापति के समक्ष प्रस्तुत किए गए अपने प्रतिवेदन में यह कहा था कि लोक लेखा समिति में राज्य सभा का प्रतिनिधित्व होना चाहिए और ''कार्य के अनावश्यक दोहरेपन से बचने के लिए'' वह समिति संसद् के दोनों सदनों की संयुक्त समिति होनी चाहिए। समिति ने इस प्रयोजन के लिए एक नियमावलि भी तैयार की जिसमें अन्य बातों के साथ यह उपबंध किया गया था कि इस समिति में लोक सभा और राज्य सभा का प्रतिनिधित्व 2:1 के अनुपात में होना चाहिए। नियम समिति ने सभापति से यह अनुरोध भी किया कि वे प्राक्कलन समिति में राज्य सभा के प्रतिनिधित्व के प्रश्न को समुचित प्राधिकारी के साथ उठाएं। तद्नुसार राज्य सभा के सचिव ने सभापति के निर्देश के अधीन लोक सभा के सचिव के साथ यह मामला उठाया। अध्यक्ष ने इस मामले को लोक सभा नियम समिति को विचार के लिए और लोक लेखा समिति के अध्यक्ष को उनकी प्रतिक्रिया के लिए सौंपा।[140]

लोक लेखा समिति ने सर्वसम्मति से यह संकल्प स्वीकृत किया कि चूंकि संयुक्त लोक लेखा समिति या राज्य सभा की एक पृथक् प्राक्कलन समिति गठित करने का सुझाव संविधान में निहित सिद्धांतों के प्रतिकूल है इसलिए वह उसे स्वीकार्य नहीं है। लोक सभा की नियम समिति ने भी अपने प्रतिवेदन में अपने इस मत के समर्थन में विस्तृत तर्क प्रस्तुत किए कि किसी वित्तीय मामले पर दोनों सदनों की कोई संयुक्त समिति नहीं होनी चाहिए।[141]

यहां पर एक गतिरोध उत्पन्न हो गया किन्तु इस संबंध में पर्दे के पीछे विचार-विमर्श होता रहा क्योंकि दोनों सदनों के सदस्य ऐसा कोई हल खोजने के लिए उत्सुक थे जो वित्तीय मामलों में लोक सभा की सर्वोच्चता बनाए रखने संबंधी संवैधानिक उपबंधों के संदर्भ में दोनों सदनों को स्वीकार्य हो और जो साथ ही राज्य सभा के सदस्यों को वित्तीय मामलों में अपनी सलाह देने का अवसर दे सके। अंततः यह निर्णय हुआ कि यदि लोक सभा लोक लेखा समिति के साथ राज्य सभा के सदस्यों को संबद्ध करने के लिए अपनी ओर से प्रतिवर्ष एक संकल्प पारित कर दे तो दोनों लक्ष्यों की पूर्ति हो सकती है।[142]

12 मई, 1953 को प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने लोक सभा में निम्नलिखित प्रस्ताव उपस्थित किया:

> यह सदन राज्य सभा से सिफारिश करता है कि वह 1953-54 के वर्ष के लिए इस सदन की लोक लेखा समिति से संबद्ध होने के लिए अपने 7 सदस्यों को नामनिर्देशित करने के लिए सहमत हो और सभा द्वारा इस प्रकार नामनिर्देशित सदस्यों के नामों की सूचना इस सदन को दे।[143]

लोक सभा में इस प्रस्ताव का विरोध किया गया। सदस्यों का विचार था कि यह संविधान के अधीन लोक सभा को दिए गए अनन्य अधिकारों और विशेषाधिकारों का अतिक्रमण है। सदस्यों ने विशेष रूप से इस तथ्य का उल्लेख किया कि धन विधेयकों और वित्तीय मामलों के संबंध में राज्य सभा की शक्तियां सीमित हैं। इस संबंध में लोक सभा में दो दिनों तक बहस चली। 13 मई, 1953 को प्रधान मंत्री ने एक बहुत विस्तृत उत्तर दिया जिसमें प्रश्न के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया था। इस आरोप का उत्तर देते हुए कि उनके द्वारा उपस्थित किए गए प्रस्ताव से लोक सभा की शक्तियों का अतिक्रमण करने का प्रयास किया जा रहा है, प्रधान मंत्री ने कहा:

> सदन की शक्तियों पर बहुत बल दिया जा रहा है मानो कोई व्यक्ति उन्हें चुनौती दे रहा हो या उन पर हमला कर रहा हो। धन और वित्तीय मामलों के बारे में इस सदन की शक्तियां क्या हैं इसके बारे में कोई संदेह नहीं है। हम इसी आधार पर चलते हैं। यहीं मामला समाप्त हो जाता है। दूसरा मुद्दा यह है कि क्या इस नई चीज से, जो मेरे प्रस्ताव से आती हुई प्रतीत होती है, इन शक्तियों पर कोई आंच आती है। यदि इससे इन शक्तियों पर किसी प्रकार से कोई आंच आती है तो यह एक गलत प्रस्ताव है। यदि इससे इन शक्तियों पर आंच आने की संभावना है तो मैं यह मानता हूं कि हमें सावधान रहना चाहिए और यह देखना चाहिए कि इससे ऐसा नहीं होना चाहिए।[144]

जहां तक प्रस्ताव के अनुसार समिति के साथ राज्य सभा के सदस्यों के संबद्ध होने की बात थी, उन्होंने कहा:

> इसके बाद संबद्ध सदस्यों के बारे में कुछ बातें कही गई हैं। ये संबद्ध सदस्य कौन हैं? यह प्रस्ताव बहुत सीधा-सादा है। यह राज्य सभा से अनुरोध करता है कि वह अपने 7 सदस्यों को लोक लेखा समिति के साथ संबद्ध करे। यह कहना हमारा काम नहीं है कि राज्य सभा उनका चयन कैसे करेगी। यह स्पष्ट है कि वह निर्वाचन द्वारा उनका चयन करेगी; वह किसी दूसरे तरीके से उनका चयन नहीं कर सकती। हम यह जानते हैं कि निर्णय करना उसका काम है। स्वाभाविक है कि वह समानुपातिक प्रतिनिधित्व आदि द्वारा निर्वाचन करेगी। चूंकि समिति का प्रमुख काम छानबीन करना है इसलिए यदि ये सदस्य समिति में आते हैं तो सदस्यों की दो श्रेणियां होने का कोई सवाल पैदा नहीं होता। उनकी श्रेणी और हैसियत एक जैसी होगी।
>
> यह सच है कि यह मेरी इच्छा है और मैं समझता हूं कि सदन की भी यह इच्छा होनी चाहिए कि दूसरे सदन के साथ मित्रता और सहयोग के रिश्ते कायम होने चाहिए क्योंकि सारी चीजों के स्वरूप को देखते हुए और संविधान के स्वरूप को देखते हुए हर सदन सार्वजनिक कार्य में बाधा डाल सकता है और उसमें देरी कर सकता है। इसमें कोई शक नहीं है कि हर सदन के पास अच्छा काम करने की क्षमता है किन्तु उसके पास किसी काम में देर करने की क्षमता भी है और देर करने के तरीके अपनाकर दूसरे सदन को क्षुब्ध और परेशान करने की क्षमता भी है। संविधान की यह संकल्पना है कि संसद् एक एकीकृत निकाय है। यदि दूसरे सदन के सदस्य को बाहर का व्यक्ति कहा जाता है तो इस पर मुझे वैसा ही खेद होता है जैसाकि दूसरी ओर बैठे हुए मेरे माननीय सदस्य को होता है। एक संकीर्ण अर्थ में आप ऐसा कह सकते हैं किन्तु ऐसे कथन के पीछे जो धारणा है वह अच्छी नहीं है और संसद् में हम एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, संसद् के कर्त्तव्यों का बोझ उठा रहे हैं और भारत के लोगों की आशाएं हम पर टिकी हैं। मेरा निवेदन है कि जो प्रस्ताव मैंने रखा है उससे इस सदन की शक्तियों का या प्राधिकार का जरा-सा भी अतिक्रमण नहीं होता बल्कि वह दोनों सदनों के सम्मिलित प्रयास की दृष्टि से वांछनीय है और इस दृष्टि से भी वांछनीय है कि हम अन्य देशों और संसदों के समक्ष एक उदाहरण प्रस्तुत कर सकें कि हम अपने संविधान के इस जटिल ढांचे के अधीन निर्बाध रूप से, प्रभावी रूप से और सद्भावना के साथ किस प्रकार कार्य कर सकते हैं।[145]

अंतत: 24 दिसम्बर, 1953 को लोक सभा ने उक्त प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी।[146]

लोक सभा के प्रस्ताव पर सहमति के लिए और 1954-55 के वर्ष के लिए समिति के लिए सात सदस्यों के नामनिर्देशन हेतु संसदीय कार्य मंत्री द्वारा 13 मई, 1954 को उपस्थित किए गए प्रस्ताव पर राज्य सभा

द्वारा चर्चा की गई,[147] चर्चा के दौरान सदस्यों ने समिति में अपनी हैसियत के मुद्दे को उठाया। प्रस्ताव सभापति की निम्नलिखित टिप्पणियों के साथ स्वीकृत हुआ:

> ''...मैं समझता हूं कि सदस्यगण इस प्रस्ताव के इतिहास को जानते हैं और मेरे लिए उसे दोहराना आवश्यक नहीं है। बाइबिल की एक प्रसिद्ध कहावत है कि ''सभी चीजें विधान-सम्मत हो सकती हैं पर सभी चीजें सुविधाजनक नहीं होती हैं।'' जो प्रस्ताव हमारे सामने है वह उन्हीं शब्दों में है जिनका पिछले दिसम्बर में हमारे सामने रखे गए प्रस्ताव में प्रयोग किया गया था, अर्थात् ''राज्य सभा लोक लेखा समिति से संबद्ध होने के लिए अपने सात सदस्यों को नामनिर्देशित करने के लिए सहमत हो।'' पिछली बार यही प्रस्ताव हमारे सामने आया था, अत: यह किसी रियायत का या किसी चीज को सहन करने का प्रश्न नहीं है, यह अधिकार की बात है जो संसद् के उस प्रस्ताव के अनुसार है जो इस सदन द्वारा स्वीकृत किया गया है। संसदीय कार्य मंत्री ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि हम समिति में अन्य सदस्यों के साथ पूरी समानता के आधार पर कार्य करेंगे। लोक सभा की कार्यवाही के असंशोधित पाठ में अध्यक्ष ने कहा है: ''जहां तक विचार-विमर्श, मतदान और अन्य बातों का संबंध है, उनकी हैसियत बराबरी की रहेगी।'' अत: श्री सत्य नारायण सिन्हा का वक्तव्य वैसा ही है जैसा अध्यक्ष का है या अध्यक्ष द्वारा दिया गया वक्तव्य श्री सत्य नारायण सिन्हा द्वारा दोहराया गया है। अत: अब हमें वहां बैठने का अधिकार है और हमारे अधिकार बिल्कुल वही हैं जो अन्य सदस्यों के हैं। मुद्दा यह है कि इस समिति का विचार-विमर्श जिन नियमों के अधीन है वे नियम दूसरे सदन के नियम होंगे। अत: इसी से यह सारी भ्रांति उत्पन्न हुई है। छोटे-छोटे मतभेदों को तूल देना मैं बहुत अनुचित समझता हूं। मैं सभा को यह सलाह दूंगा कि वह इस प्रस्ताव को स्वीकार करे और अपने अधिकारों का पूरा-पूरा उपयोग करे।'' [148]

(ङ) *लोक उपक्रमों संबंधी समिति की सदस्यता*

जहां तक लोक उपक्रमों संबंधी समिति का संबंध है, इस समिति में राज्य सभा के प्रतिनिधित्व के संदर्भ में ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इस समिति को पहली बार स्थापित करने के लिए 24 नवम्बर, 1961 को लोक सभा में एक प्रस्ताव उपस्थित किया गया। उद्योग मंत्री द्वारा उपस्थित किए गए प्रस्ताव में समिति के कृत्यों का विस्तृत रूप से विवरण दिया गया था। यह समिति लोक सभा के दस सदस्यों और राज्य सभा के पांच सदस्यों से मिलकर बननी थी। प्रस्ताव के एक पैरा में राज्य सभा से सिफारिश की गई थी कि वह ''उक्त समिति में सम्मिलित हो।'' लोक सभा में प्रस्ताव पर हो रही बहस के दौरान इस शब्दावलि पर आपत्ति प्रकट की गई। सदस्यों का विचार था कि इस शब्दावलि का प्रयोग करना उस प्रक्रिया को नहीं अपनाना है जो लोक लेखा समिति के मामले में अपनाई गई थी क्योंकि उसमें दूसरे सदन के सदस्य केवल ''संबद्ध सदस्य'' थे।[149] इसके बाद 21 सितम्बर, 1963 को लोक सभा में दो अलग-अलग प्रस्ताव उपस्थित किए गए जिनमें से एक लोक उपक्रमों संबंधी समिति का गठन करने के संबंध में था और दूसरा राज्य सभा से यह सिफारिश करने के बारे में था कि वह समिति से संबद्ध होने के लिए पांच सदस्यों का नामनिर्देशन करे। लोक सभा में ये प्रस्ताव 20 नवम्बर, 1963 को स्वीकृत हुए।[150] राज्य सभा में 27 अगस्त, 1962 को राज्य सभा के अधिकारों के संबंध में मामला उठाया गया। सदन ने 26 नवम्बर और 2 दिसम्बर, 1963 को समिति की स्थापना पर सहमति संबंधी प्रस्ताव पर विचार किया और 2 दिसम्बर, 1963 को इस प्रस्ताव को स्वीकार किया।

(च) *वित्तीय समितियों में राज्य सभा के सदस्यों की स्थिति*

लोक लेखा समिति और लोक उपक्रमों संबंधी समिति में राज्य सभा के सदस्यों की स्थिति या हैसियत के बारे में स्पष्ट और निश्चित व्याख्या होने पर भी दोनों सदनों में दो अवसरों पर और बिल्कुल भिन्न संदर्भों में स्थिति संबंधी विवाद पुन: उठा।

28 अप्रैल, 1975 को जब लोक लेखा समिति का 159वां प्रतिवेदन राज्य सभा के पटल पर रखा जा रहा था तब राज्य सभा के एक सदस्य ने (जो समिति के सदस्य भी थे) यह आपत्ति की कि समिति ने प्रतिवेदन

को समुचित रूप से स्वीकृत नहीं किया है।[151] राज्य सभा में लोक लेखा समिति के प्रतिवेदन पर प्रश्न उठाने की बात पर अगले दिन लोक सभा में आपत्ति की गई।[152] इसके बाद 30 अप्रैल, 1975 को उससे पिछले दिन लोक सभा की कार्यवाही के दौरान राज्य सभा के बारे में की गई कुछ अशोभनीय टिप्पणियों का मामला राज्य सभा में उठा। संसदीय कार्य विभाग में राज्य मंत्री ने अन्य बातों के साथ कहा कि इस मामले को लोक सभा और राज्य सभा के बीच अधिकारों और विशेषाधिकारों के बारे में किसी विवाद के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए और पिछले अनेक वर्षों में यह अच्छी तरह सिद्ध हो गया है कि लोक सभा के सदस्यों की तरह राज्य सभा के सदस्यों को भी समान अधिकार प्राप्त हैं जिनमें मत देने का अधिकार भी शामिल है और राज्य सभा के सदस्यों की हैसियत भी लोक सभा के सदस्यों के बराबर है। अंत में उपसभापति ने निम्नलिखित टिप्पणियां कीं:

> जहां तक हमारा संबंध है, जब लोक लेखा समिति की सदस्यता का मामला पहले पहल उठा था तब डा॰ राधाकृष्णन् और तत्कालीन अध्यक्ष द्वारा जो टिप्पणियां की गई थीं उन्हें यहां उद्धृत किया गया है। श्री सत्य नारायण सिन्हा ने भी, जिन्होंने उस समय प्रस्ताव उपस्थित किया था इसे बहुत स्पष्ट कर दिया था। मैं उनके शब्दों को उद्धृत करूंगा:
>
> > ''मैं यह कहना चाहूंगा कि जहां तक सदस्यों की शक्तियों, कृत्यों और हैसियत का संबंध है, इस सदन के सदस्यों और उस सदन के सदस्यों के बीच बिल्कुल कोई अंतर नहीं है।''
>
> उस समय यह पूर्णत: स्पष्ट कर दिया गया था, कि जहां तक सदस्यता का संबंध है, वे एक समिति के सदस्य हैं और किसी समिति की दो प्रकार की सदस्यता नहीं हो सकती, चाहे वे इस सदन के हों या उस सदन के, एक बार जब वे सदस्य बन जाते हैं तो वे समिति के सदस्य होते हैं और उनके अधिकारों और उनकी स्थिति में कोई अंतर होता ही नहीं। यह बिल्कुल स्पष्ट है।
>
> जहां तक वहां पर कल हुई चर्चा का संबंध है, मैं सिर्फ यही कह सकता हूं कि इस बात का हवाला देने के बजाय कि वहां पर क्या कहा गया है और फलां-फलां सदस्य ने क्या कहा है, हमारे लिए और दूसरे सदन के सदस्यों के लिए यह देखना अधिक प्रतिष्ठा की बात होगी कि हम एक ऐसी संसद् के रूप में कार्य करें जो अभिन्न है। संसद् राष्ट्रपति और संसद् के दोनों सदनों से मिलकर बनती है। अत: मैं समझता हूं कि दूसरे सदन के बारे में या इस सदन के बारे में ऐसी कोई भावना रखना असंगत है। मैं समझता हूं कि दोनों सदनों को वस्तुत: तालमेल के साथ कार्य करना चाहिए और एक दूसरे के अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए। मैं समझता हूं कि यह दुर्भाग्यपूर्ण बात यहीं पर और इसी समय समाप्त हो जाएगी।[153]

एक बार फिर 2 मई, 1975 को, जब संसदीय कार्य विभाग में राज्य मंत्री 1975-76 के वर्ष के लिए लोक लेखा समिति के लिए राज्य सभा के सदस्यों के नामनिर्देशन का प्रस्ताव उपस्थित कर रहे थे, एक सदस्य ने टिप्पणी की: ''मैं संसद् की किसी समिति में किसी को तब तक नहीं भेजना चाहूंगा जब तक उसके पास सदन की ओर से कार्य करने के लिए पूरे अधिकार और पूरी गरिमा प्राप्त न हो।'' उपसभापति ने अपनी पिछली टिप्पणियों का हवाला देते हुए, (जिन्हें ऊपर उद्धृत किया गया है) यह कहा: ''मैं सारे मामले पर निर्णय दे रहा हूं; ...मैं यही स्पष्ट कर रहा हूं कि जहां तक समिति के सदस्यों का संबंध है, उनके निर्वाचन की प्रक्रिया चाहे जो भी हो, एक बार जब वे समिति के सदस्य बन जाते हैं तब उनका दर्जा वही होता है जो समिति के अन्य सदस्यों का होता है।''[154]

14 जुलाई, 1982 को एक बार फिर जब लोक उपक्रमों संबंधी समिति के 47वें प्रतिवेदन से संबंधित बैठकों के कार्यवृत्त की एक प्रति राज्य सभा के पटल पर रखी जा रही थी, कुछ सदस्यों ने टिप्पणी की कि सभा पटल पर रखा गया कार्यवृत्त तोड़-मरोड़ कर पेश किया गया है, वह तथ्यों पर आधारित नहीं है, एच॰ एस॰ डी॰ सौदे के संबंध में समिति की बैठक में जो कुछ हुआ था उसे सही ढंग से नहीं दर्शाया गया है और सरकार ने सौदे से संबंधित फाइलों को उपलब्ध न करके समिति के काम में रोड़ा अटकाया है। इस मुद्दे

से विशेषाधिकार के अनेक मामले उठे। सभापति ने अपनी पहली व्यवस्था में यह कहा कि विशेषाधिकार का प्रश्न राज्य सभा की समिति के बारे में ही उठाया जा सकता है और चूंकि लोक उपक्रमों संबंधी समिति लोक सभा के अध्यक्ष के निदेश और नियंत्रण के अधीन कार्य करती है और उस सदन के नियमों के अधीन उसके बारे में उपबंध किए गए हैं इसलिए उस समिति के संबंध में विशेषाधिकार भंग की किसी शिकायत पर विचार करना राज्य सभा के क्षेत्राधिकार में नहीं आता। सदस्यों ने इस व्याख्या के विरोध में टिप्पणियां कीं।

26 जुलाई, 1982 को सभापति ने अपनी पिछली व्यवस्था के बारे में विस्तृत रूप से कारण दिए। इसके बाद इस व्यवस्था के बारे में टिप्पणी करते हुए कुछ समाचार-पत्रों में लेख प्रकाशित हुए जिनके कारण उनके विरुद्ध विशेषाधिकार की सूचनाएं भी दी गईं। सभापति ने 2 अगस्त, 1982 की अपनी व्यवस्था में स्पष्ट किया:

> ''मैं जिस तथ्य को अपने निर्णय का आधार समझता हूं वह यह है कि क्या लोक उपक्रमों संबंधी समिति हमारे नियमों के नियम 187 के अधीन हमारे सदन की समिति के रूप में मानी जा सकती है। इस मामले पर बहुत सावधानी और ध्यान के साथ विचार करने के बाद मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि वह इस रूप में नहीं मानी जा सकती। संभवत: मेरे कथन के अर्थ को नहीं समझा गया और इसके कारण काफी गलतफहमी पैदा हो गई। मेरे निर्णय में अपने सदन के सदस्यों पर कोई आक्षेप की बात नहीं थी। मैं अपने सदन के माननीय सदस्यों के सम्मान और उनके अधिकारों के बारे में हमेशा से बहुत सचेत रहा हूं। मैंने अनेक बार ऐसा कहा है। इस विसंगतिपूर्ण स्थिति से मुझे कुछ कम परेशानी नहीं हुई कि समिति में काम करने वाले लोगों में कुछ तो विशेषाधिकार के हर मामले को उठा सकते हैं जबकि इस सदन के सदस्य, कुछ मामलों को छोड़कर जिनका मैंने उल्लेख किया है, ऐसा नहीं कर सकते। सदन के उन सदस्यों के अधिकारों के बारे में चिंतित होने के कारण जो लोक सभा के सदस्यों के साथ बैठते हैं किंतु स्वयं पूर्ण सदस्य नहीं हैं, मैंने वे बातें कही हैं जिन्हें कहना मैंने आवश्यक समझा है। ऐसा लगता है कि इस सवाल ने पहले भी इस सदन को परेशान किया था। यह तथ्य कि पंडित नेहरू और श्री कानूनगो को 'समान हैसियत और दर्जे' के बारे में आश्वासन देना पड़ा था, यह दर्शाता है कि यह मुद्दा अधिकार के रूप में नहीं उठा।''

सभापति ने सुझाव दिया कि ऐसी स्थितियों से निपटने के लिए और समिति में राज्य सभा की सदस्यता के संबंध में जो भी विसंगतियां हैं उन्हें दूर करने के लिए नियम बनाए जा सकते हैं। सभा के नेता ने कहा कि इस संबंध में ऐसा हल खोजा जा सकता है जो दोनों सदनों को स्वीकार्य हो। इस प्रकार मामले को सौहार्दपूर्ण ढंग से निपटाया गया।

इस मामले के संबंध में 28 जुलाई, 1982 को अध्यक्ष ने श्री जवाहरलाल नेहरू के कथन को उद्धृत करते हुए निम्नलिखित टिप्पणी की:

> ''राज्य सभा के सदस्य लोक लेखा समिति और लोक उपक्रमों संबंधी समिति के साथ क्रमश: 1954 और 1964 से संबद्ध रहे हैं। जैसाकि सुविदित है, राज्य सभा के माननीय सदस्य वित्तीय समितियों की शक्ति के स्रोत रहे हैं और उन्होंने उनके विचार-विमर्श के स्तर को ऊंचा उठाने में भारी योगदान दिया है। वित्तीय समितियों को महत्त्वपूर्ण विषयों की विस्तृत रूप से छानबीन करने का भारी दायित्व सौंपा गया है। राज्य सभा के माननीय सदस्यों को इन समितियों में बहुत आदर और सम्मान प्राप्त हुआ है और उन्हें इन समितियों की उपसमितियों और अध्ययन समूहों का संयोजक नियुक्त किया जाता रहा है। पंडित जवाहरलाल नेहरू संसदीय संस्थाओं के प्रमुख निर्माता थे और उन्होंने उन्हें आपस में जोड़ने का काम किया था। लोक लेखा समिति के साथ राज्य सभा के सदस्यों को संबद्ध करने के लिए रखे गए प्रस्ताव पर 13 मई, 1953 को बोलते हुए पंडित जवाहरलाल नेहरू ने जो बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह दी थी उसका अक्षरश: और तत्वत: अनुसरण करने के लिए हम निरन्तर प्रयास करते रहे हैं।''[155]

विवादों की उक्त घटनाएं संसद् के कार्यकरण के संवैधानिक पहलुओं से संबंधित थीं। तथापि, कुछ अन्य प्रकार के विवाद भी उत्पन्न हुए हैं जिनका प्रसंगत: उल्लेख किया जा सकता है।

(i) क्या 'संसद्' में राज्य सभा शामिल है

24 नवम्बर, 1952 को एक सदस्य ने सदन का ध्यान इस ओर खींचा कि संसद् भवन में घुसते ही उन्होंने ''संसदीय सूचना कार्यालय'' नामक कमरा देखा जहां लोक सभा (तत्कालीन हाउस ऑफ् दि पीपल) की सूचनाएं लगी हुई थीं और राज्य सभा (तत्कालीन काउन्सिल ऑफ स्टेट्स) की सूचनाएं नहीं लगी थीं; उन्होंने कहा कि वह इसे ''अपने सदन की आजादी और स्वतंत्रता का घोर अतिक्रमण'' मानते हैं। अत: उन्होंने सभापीठ से अनुरोध किया कि इस मामले को सरकार के साथ उठाया जाए और यह सुनिश्चित किया जाए कि भारत की संसद् ''वस्तुत: राज्य सभा और लोक सभा से मिलकर बनती है।'' उपसभापति ने सूचित किया कि इस संबंध में कुछ भ्रम रहा है और इस मामले की ओर अध्यक्ष का ध्यान दिलाया जा चुका है और ''आपसी समझ-बूझ के साथ किसी सहमति पर पहुंच जाएंगे।''[156] तीन दिन बाद एक और सदस्य ने यह मामला उठाया। इस पर प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने, जो सदन में उपस्थित थे, निम्नलिखित टिप्पणी की:

> ''श्रीमन्, निस्संदेह यह सदन अनिवार्य रूप से संसद् का एक भाग है। यदि किसी प्रकार के सूचना बोर्ड से—जिसके बारे में मुझे कतई जानकारी नहीं है—कोई भ्रांति उत्पन्न होती है और फिर से कुछ व्यवस्था करना आवश्यक हो जाता है तो, श्रीमन्, मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि आप इस सदन के हितों की भलीभांति रक्षा कर सकते हैं।''[157]

(ii) सामान्य बजट पर पहले राज्य सभा में चर्चा

2 मार्च, 1963 को लोक सभा में एक मुद्दा उठाया गया जिसमें बजट पर लोक सभा द्वारा चर्चा होने के पहले उस पर राज्य सभा द्वारा चर्चा किए जाने पर आपत्ति की गई थी। यहां तक कहा गया कि राष्ट्रपति के अभिभाषण के बाद राज्य सभा को स्थगित हो जाना चाहिए और इस बीच में लोक सभा द्वारा उस पर चर्चा कर लिए जाने के बाद राज्य सभा को मध्यावकाश के पश्चात् उस पर चर्चा करनी चाहिए।[158] राज्य सभा में यह मुद्दा उठने के बाद संसदीय कार्य मंत्री ने स्थिति स्पष्ट की। सभापति ने अन्य बातों के साथ निम्नलिखित टिप्पणी की:

> ''...जैसाकि आप सभी लोगों ने कहा है, संवैधानिक स्थिति बिल्कुल स्पष्ट है। किसी भी बात में बड़े-छोटे का सवाल नहीं है। हम दो भिन्न सदन हैं, हमारे लिए कृत्य विहित किए गए हैं जिन्हें हमें पूरा करना है। कोई सदन दूसरे सदन से बड़ा है, यह सवाल नहीं उठता, इस मुद्दे पर कोई विवाद नहीं किया जा सकता। मैं यह नहीं समझता कि यह प्रश्न वहां क्यों उठाया गया था। हो सकता है कि यह प्रश्न गलतफहमी के कारण उठा हो। धन विधेयकों के संबंध में लोक सभा को जो विशेष अधिकार प्राप्त हैं उनके कारण संभवत: उनकी यह धारणा हो कि बजट पर यहां पहले चर्चा नहीं होनी चाहिए, जोकि गलत है। निश्चय ही कारण यही रहा होगा और मेरे विचार में इसमें अपमान की कोई बात नहीं है।''[159]

इसके बाद 12 मार्च, 1965 को लोक सभा में इसी प्रकार का एक मामला पुन: उठाया गया।[160] 15 मार्च, 1965 को एक सदस्य ने राज्य सभा में यह मामला उठाया और 12 मार्च को अध्यक्ष द्वारा की गई निम्नलिखित टिप्पणी का हवाला दिया:

> ''हमें किसी तरह से यह नहीं दर्शाना चाहिए या ऐसा प्रतीत नहीं होना चाहिए कि हमें उनके द्वारा उनके अधिकारों के प्रयोग से कोई ईर्ष्या है किंतु कतिपय अधिकार ऐसे हैं जो इस सदन में निहित हैं। इस पर भी विचार करना पड़ेगा। यदि संविधान द्वारा सिर्फ इसी सदन को कतिपय विशेषाधिकार प्रदान किए गए हैं तो यह हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम उनको कम न करें। माननीय मंत्री ने यह बताने के लिए कतिपय टिप्पणियों का हवाला दिया है कि सरकार के पास करों और अन्य चीजों में परिवर्तन करने की शक्ति है। कानून के अधीन वह ऐसा कर सकती है। वह हमेशा ऐसा कर सकती है। किन्तु जब उस सदन में चर्चा होती है तब कभी-कभी मैं यह नहीं कहता कि इस बार या अगली बार—कतिपय अवसरों पर यह आवश्यक हो सकती

है और जहां तक इस कराधान का संबंध है, मंत्री महोदय को कोई घोषणा करने के लिए राजी किया जा सकता है। यह स्थिति कुछ विचित्र होगी क्योंकि सिर्फ यही सदन इन चीजों के लिए अनुरोध कर सकता है और मंत्री महोदय उसे देखते हुए रियायतें दे सकते हैं।''

सदस्य ने तर्क दिया कि उक्त टिप्पणियों से संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों में कमी आती है। सभा के नेता (श्री एम॰ सी॰ छागला) ने अपने उत्तर में निम्नलिखित टिप्पणी की:

''संविधान ने वित्तीय मामलों में लोक सभा और राज्य सभा की शक्तियों को स्पष्ट रूप से सीमांकित किया है। किन्तु मैं इस सदन से यही अनुरोध करूंगा कि हमें दूसरे सदन के साथ किसी टकराव या विवाद से बचने का प्रयास करना चाहिए और इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है कि इस सदन के अधिकार और विशेषाधिकार हमारे सभापति के हाथों में सुरक्षित हैं... संवैधानिक स्थिति बिल्कुल स्पष्ट है। संविधान के अधीन लोक सभा की भांति हमें भी वित्तीय वक्तव्य पर चर्चा करने का पूरा अधिकार है और इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं है। संसद् दोनों सदनों से मिलकर बनती है।''[161]

(iii) राज्य सभा के बजट प्राक्कलनों की छानबीन

3 मई, 1966 को एक सदस्य ने समाचार-पत्रों में छपी खबर के आधार पर एक मामला उठाया कि राज्य सभा के बजट प्राक्कलनों की जांच के लिए संसद् के दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति गठित करने का प्रस्ताव किया गया है। सदस्य ने कहा कि ऐसे प्रस्ताव से दोनों सदनों के बीच मैत्री और तालमेल के संबंधों पर बुरा असर पड़ सकता है। सदस्यों ने इस मामले पर अपने विचार व्यक्त किए। सभा के नेता (श्री एम॰ सी॰ छागला) ने कहा कि अब तक जो परंपरा रही है वह बहुत अच्छी परंपरा है। परंपरा यह है कि यह प्रत्येक सदन के पीठासीन अधिकारी का काम है कि वह प्राक्कलनों का निपटारा करे और हर सदन को उस पर पूरा भरोसा हो। प्राक्कलनों पर लोक सभा या राज्य सभा में कभी चर्चा नहीं हुई। किन्तु यदि प्रक्रिया में कोई परिवर्तन करना ही है तो दो सिद्धांतों का ध्यान रखा जाना चाहिए। पहला सिद्धांत यह है कि जहां तक संभव हो, दोनों सदनों को आपसी तालमेल, सद्भावना और समझदारी के साथ कार्य करना चाहिए। दूसरा सिद्धांत यह है कि इस सभा की गरिमा को पूरी तरह से बनाए रखा जाना चाहिए। अत: सभा के नेता ने अध्यक्ष को या दूसरे सदन को राज्य सभा की इस इच्छा से अवगत कराने की पेशकश की या तो विद्यमान परंपरा जारी रखी जाए या यदि इस परंपरा को छोड़ देना है तो यह आवश्यक है कि हमारे अपने प्राक्कलनों की जांच और छानबीन के लिए हमारी ही एक समिति हो। यदि संयुक्त समिति ही बनाई जाती है तो वह राज्य सभा और लोक सभा दोनों के प्राक्कलनों की छानबीन करे। सभापति ने निम्नलिखित टिप्पणियों के साथ चर्चा समाप्त की:

''पिछले साल लोक सभा के अध्यक्ष ने राज्य सभा के लेखाओं की भी जांच करने के लिए एक वैसी ही समिति नियुक्त करने की संभावना पर मेरे साथ विचार-विमर्श किया था जैसी उन्होंने लोक सभा के लेखाओं की जांच करने के लिए नियुक्त की थी। मैंने सभा में विभिन्न दलों के नेताओं से परामर्श करना उचित समझा और हमने अनौपचारिक रूप से विचार-विमर्श किया। इसके बाद मैंने अध्यक्ष के साथ यह मामला उठाया और उन्हें दो विकल्प दिए क्योंकि मुझे ऐसा करने का अधिकार दिया गया था। मैंने कहा कि यदि दो समितियां बनाई जाएं जिसमें से एक हमारी और दूसरी लोक सभा की हो तो इससे हमें बहुत खुशी होगी। उनकी समिति लोक सभा के लेखाओं की जांच करे और हमारी समिति राज्य सभा के लेखाओं की जांच करे। यदि किसी कारण से ऐसा करना संभव न हो या उचित न हो तो हम संयुक्त समिति के गठन पर भी सहमत हो सकते हैं बशर्ते यह समिति राज्य सभा और लोक सभा दोनों के लेखाओं की साथ-साथ जांच करे। अध्यक्ष ने इन प्रस्तावों में से किसी को भी स्वीकार करना संभव नहीं पाया है। हम इस पर विचार-विमर्श करते रहे हैं। मैं उनके साथ अनेक बार विचार-विमर्श कर चुका हूं किन्तु हम किसी नतीजे पर नहीं पहुंचे। किन्तु यह विचार-विमर्श मेरे लिए बहुत हितकर रहा है जो भी हो, बातचीत चलती रहेगी और मुझे इस विचार-विमर्श से पथ-प्रदर्शन प्राप्त हो सकेगा।''[162]

(iv) राज्य सभा को समाप्त करने के लिए लोक सभा में संकल्प

विगत में लोक सभा में राज्य सभा की समाप्ति के प्रयोजन से दो बार संकल्प उपस्थित किए गए हैं। एक संकल्प 18 मार्च, 1954 को उपस्थित किया गया और यह अस्वीकृत हुआ।[163] दूसरा संकल्प 30 मार्च, 1973 को उपस्थित किया गया था। प्रस्ताव उपस्थित करने वाले सदस्य के अलावा जिन सात सदस्यों ने बहस में भाग लिया था उनमें से सिर्फ एक ने संकल्प का समर्थन किया और सभी अन्य सदस्यों ने उसका विरोध किया। अंततः संकल्प अस्वीकृत हुआ।[164] 31 मार्च, 1973 को राज्य सभा में अनेक सदस्यों ने लोक सभा में उक्त संकल्प उपस्थित करने वाले सदस्य की कुछ कथित टिप्पणियों पर, जैसीकि वे एक प्रेस समाचार में छपी थीं, भारी रोष व्यक्त किया। सदस्यों का कहना था कि ऐसी टिप्पणियों से राज्य सभा की गरिमा और प्रतिष्ठा गिरती है और इसलिए यह सदन के विशेषाधिकार के भंग होने का मामला है। सभापति ने इस पर टिप्पणी की कि परंपरा यह है कि संसद् के दोनों सदन और उनके सदस्य एक-दूसरे के साथ पूरे सम्मान के साथ पेश आएं और एक-दूसरे की भावनाओं को पूरा महत्त्व दें और दोनों सदनों और उनके सदस्यों के बीच अच्छे से अच्छे संबंध हों। इसके साथ ही सभापति ने सदन को सूचित किया कि वे सदस्यों द्वारा व्यक्त विचारों से अध्यक्ष को अवगत कराएंगे। तद्नुसार, सभापति ने अध्यक्ष को एक पत्र लिखा जिसके साथ सदन की कार्यवाही के संबद्ध उद्धरण भी संलग्न थे। पत्र में अध्यक्ष से निवेदन किया गया था कि वे इस संबंध में ऐसी कार्यवाही करें जिसे वे उचित समझें।[165] 30 अप्रैल, 1973 को सभापति ने मामले की पृष्ठभूमि को सामने रखते हुए एक घोषणा की और लोक सभा अध्यक्ष के दिनांक 5 अप्रैल, 1973 के उत्तर को पढ़कर सुनाया जिसमें अन्य बातों के साथ यह कहा गया था कि संबंधित सदस्य ने अपने भाषण में ऐसा कुछ नहीं कहा है जिसे समाचारपत्र में छपी खबर में सदस्य् द्वारा कहा गया बताया गया है। अपने उत्तर में अध्यक्ष ने यह भी टिप्पणी की थी:

> ''दोनों सदनों के बीच और साथ ही उनके सदस्यों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंधों के बारे में आपने जो विचार व्यक्त किए हैं, मैं उनसे पूरी तरह से सहमत हूं।.... मैं उस चिंता को भी समझता हूं जो आपके सदन के माननीय सदस्यों ने व्यक्त की है। लोक सभा की ओर से और मेरी ओर से भी उन्हें इस बारे में आश्वस्त करने की कृपा करें कि हम उनका पूरा सम्मान और आदर करते हैं।''

सभापति ने यह सूचना भी दी कि उन्हें 22 अप्रैल, 1973 को अध्यक्ष का एक और पत्र मिला है जिसके साथ उन्होंने उस घोषणा की एक प्रति भी भेजी है जो उन्होंने 19 अप्रैल, 1973 को लोक सभा में की थी। घोषणा के अंत में अध्यक्ष ने कहा था:

> ''क्या मैं इस अवसर पर माननीय सदस्यों से अनुरोध कर सकता हूं कि वे आवश्यक संयम बरतें और इस सभा में ऐसी कोई बात न कहें जिससे इस सभा और राज्य सभा के बीच कटुता पैदा हो सकती हो।''

इसके पश्चात् सभापति ने मामले को समाप्त कर दिया।[166]

(v) राज्य सभा के एक सदस्य की वित्त मंत्री के रूप में नियुक्ति

19 फरवरी, 1982 को जब लोक सभा में वित्त मंत्री को संबोधित दूसरा प्रश्न पुकारा गया तब एक सदस्य ने यह औचित्य प्रश्न उठाया (जिसे अध्यक्ष ने एक विशेष मामले के रूप में उठाने की अनुमति दी क्योंकि औचित्य प्रश्न का संबंध प्रश्न के साथ था) कि वित्त मंत्री (श्री प्रणब मुखर्जी) को, जो राज्य सभा के सदस्य हैं, वित्त मंत्रालय की अध्यक्षता करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि वित्तीय मामलों में लोक सभा के अधिकार सबसे बढ़-चढ़ कर हैं। अध्यक्ष ने विभिन्न तर्कों को सुनने के बाद और संविधान के अनुच्छेद 75, 77 और 80 का उल्लेख करते हुए अन्य बातों के साथ औचित्य प्रश्न को अमान्य ठहराया

और अपने निर्णय के अंत में कहा कि ''यह तथ्य कि दूसरे सदन से कोई सदस्य वित्त मंत्री नहीं बना, राज्य सभा के किसी सदस्य की वित्त मंत्री के रूप में नियुक्ति को नहीं रोकता।''[167]

23 फरवरी, 1982 को यह मामला राज्य सभा में एक सदस्य द्वारा उठाया गया जिसने यह तर्क किया कि लोक सभा में चर्चा के दौरान राज्य सभा पर ''अप्रत्यक्ष रूप से लांछन लगाया गया है या आक्षेप किया गया है।'' इस पर सभापति ने निम्नलिखित टिप्पणी की:

> ''संविधान में इस सदन के किसी सदस्य को वित्त मंत्री के रूप में नियुक्त करने पर कोई रोक नहीं है। वास्तव में संविधान निरपवाद रूप से यह कहता हुआ प्रतीत होता है कि मंत्री दो सदनों में से किसी भी सदन का सदस्य हो सकता है। इसमें सिर्फ यह रोक लगाई गई है कि वह उस सदन में मतदान नहीं कर सकता जिसका वह सदस्य नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि हमारे सदन के किसी सदस्य को पहली बार वित्त मंत्री बनाया गया है। जहां तक मेरी बात है, मुझे खुशी है कि सभा के नेता को यह सम्मान प्राप्त हुआ है। यह कहना आसान नहीं है कि विगत में ऐसी कोई प्रथा विकसित हुई है जो बद्ध मूल हो चुकी है क्योंकि एक बार यह प्रथा भी टूट चुकी है कि प्रधान मंत्री लोक सभा का सदस्य हो। ब्रिटेन की संसद् की उपमा नहीं दी जा सकती क्योंकि हमारा संविधान एक लिखित संविधान है और ...उसमें एक उपबंध है जो दूसरी दिशा की ओर इंगित करता है। मैं नहीं समझता कि यह कोई ऐसा मुद्दा है जिसका इस सदन से कोई सरोकार है। दूसरे सदन ने उन्हें (वित्त मंत्री को) पहले ही स्वीकार कर लिया है। यदि उसने ऐसा नहीं किया होता तो शायद हमें कुछ कहना पड़ता।''[168]

टिप्पणियां और संदर्भ

1. अनुच्छेद 53(1)
2. अनुच्छेद 79
3. 27वां प्रतिवेदन, विशेषाधिकार समिति (अंग्रेजी), पृष्ठ 22-23
4. अनुच्छेद 54 और 55(3)
5. अनुच्छेद 54, संविधान (सत्तरवां संशोधन) अधिनियम, 1992 की धारा 2 द्वारा अंत:स्थापित स्पष्टीकरण (अधिसूचित होने वाली तारीख से)
6. अनुच्छेद 55(2)
7. निर्वाचन आयोग का आदेश सं॰ 480/2/97(1), दिनांक 14.7.1997
8. राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952, धारा 4(1)
9. ए॰ आई॰ आर॰ 1974, एस॰ सी॰ 1682
10. राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952, धारा 4(3) और धारा 4
11. -वही- धारा 5ख
12. -वही- धारा 5ग
13. बाबूराव पटेल **बनाम** डा॰ ज़ाकिर हुसेन, ए॰ आई॰ आर॰ 1968, एस॰ सी॰ 904
14. अनुच्छेद 58
15. अनुच्छेद 59(1)
16. अनुच्छेद 56
17. अनुच्छेद 57
18. असाधारण राजपत्र [II(iii)], 20.7.1969
19. लोक सभा वाद-विवाद, 1.8.1969, कालम 258-59
20. अनुच्छेद 56 (1) (ख)

21. अनुच्छेद 61(1)
22. अनुच्छेद 61(2), 61(3), 361, पहला परंतुक, 61(4)
23. अनुच्छेद 65(1), अनुच्छेद 62(2) के साथ पठित
24. अनुच्छेद 65(2)
25. अनुच्छेद 70
26. असाधारण राजपत्र (II-3), 20.7.1969
27. अनुच्छेद 85
28. अनुच्छेद 87
29. अनुच्छेद 86
30. अनुच्छेद 91(1)
31. अनुच्छेद 95(1)
32. अनुच्छेद 99
33. अनुच्छेद 80
34. अनुच्छेद 331
35. अनुच्छेद 103
36. अनुच्छेद 108(3)
37. अनुच्छेद 118(3)
38. अनुच्छेद 98
39. अनुच्छेद 117(1)
40. अनुच्छेद 3, परन्तुक
41. अनुच्छेद 274(1)
42. अनुच्छेद 117(3)
43. अनुच्छेद 111
44. अनुच्छेद 112
45. अनुच्छेद 115
46. अनुच्छेद 151(1)
47. अनुच्छेद 281
48. अनुच्छेद 323(1)
49. अनुच्छेद 338(2)
50. अनुच्छेद 340(3)
51. अनुच्छेद 350ख(2)
52. अनुच्छेद 123
53. अनुच्छेद 352
54. अनुच्छेद 356
55. अनुच्छेद 360
56. नियम 238(6) और राज्य सभा वाद-विवाद, 7.6.1971, कालम 23
57. राज्य सभा वाद-विवाद, 12.5.1970, कालम 169

58. राज्य सभा वाद-विवाद, 20.2.1961, कालम 499—501
59. -वही- 13.3.1987, कालम 202—05
60. -वही- 17.3.1987, कालम 220—22
61. -वही- 20.3.1987, कालम 240—66
62. -वही- 13.9.1991, कालम 1
63. -वही- 14.9.1991, कालम 17—23
64. -वही- 9.5.1984, कालम 147—50
65. 26वां प्रतिवेदन, विशेषाधिकार समिति
66. 27वां प्रतिवेदन, विशेषाधिकार समिति
67. राज्य सभा वाद-विवाद, 19.2.1963, कालम 81—91; 20.2.1963, कालम 232—33
68. -वही- 7.4.1971, कालम 109—209 [ब्यौरे के लिए आगे अध्याय-7 **देखिए** ।]
69. अनुच्छेद 75(3)
70. अनुच्छेद 113(2)
71. अनुच्छेद 109(1) और 117(1)
72. इसी अध्याय में संदर्भ 43-54
73. अनुच्छेद 54, 61, 66, 67(ख)
74. संसद् के सदन (संयुक्त बैठक और संवाद) नियम, असाधारण राजपत्र [I(1)], 20.5.1952 में सं॰ का॰ वि॰ अधि॰ सं॰ 5(1)-सं॰ का॰-52, 16.5.1952 के अधीन प्रकाशित
75. -वही- नियम 9-12
76. नियम 111
77. नियम 115
78. नियम 127 और 128
79. नियम 131
80. नियम 186(6)
81. नियम 118
82. नियम 69(3) और 70(2)
83. नियम 90(1), दूसरा परंतुक
84. अनुच्छेद 108(1)
85. अनुच्छेद 108(3)
86. अनुच्छेद 108(5)
87. संसद् के सदन (संयुक्त बैठक और संवाद) नियम, नियम 3
88. अनुच्छेद 118(4)
89. संसद् के सदन (संयुक्त बैठक और संवाद) नियम, नियम 6
90. अनुच्छेद 108(4)
91. अनुच्छेद 100(1)
92. राज्य सभा वाद-विवाद, 16.12.1959, कालम 2768—2801

93. लोक सभा वाद-विवाद, 11.2.1960 और 23.2.1960
94. राज्य सभा वाद-विवाद, 25.2.1960, कालम 1949–50
95. -वही- 10.3.1960, कालम 3456–80
96. संसदीय समाचार (1), 30.11.1960
97. लोक सभा संसदीय समाचार (1), 13.12.1960
98. नियम 116
99. संसदीय समाचार (1), 19.4.1961
100. संसद् के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक वाद-विवाद, 9.5.1961, कालम 282—314
101. संसदीय समाचार (1), 10.5.1978
102. संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक वाद-विवाद, 16.5.1978, कालम 150
103. संसदीय समाचार (2), 21.3.2002
104. संसदीय समाचार (2), 22.3.2002
105. नियम 238(3)
106. लोक सभा वाद-विवाद, 2.8.1977, कालम 264–368
107. राज्य सभा वाद-विवाद, 3.8.1977, कालम 185
108. नियम 238क
109. राज्य सभा वाद-विवाद, 19.6.1967, कालम 4656–59
110. -वही- 30.3.1970, कालम 192
111. -वही- 31.3.1970, कालम 147
112. -वही- 1.4.1970, कालम 53, 61
113. लोक सभा वाद-विवाद, 1.4.1970, कालम 234—37
114. पार्लियामेंटरी प्रिविलेज़ेज-डाइजेस्ट ऑफ केसेज, 1950—1985, पृष्ठ 571 (1987)
115. राज्य सभा वाद-विवाद, 4.4.1970, कालम 10-11
116. -वही- 2.9.1970, कालम 152—55
117. लोक सभा वाद-विवाद, 3.9.1970, कालम 6—9
118. पी॰डी॰, 1950–1985, पृष्ठ 97 (1987)
119. मे, पृष्ठ 375, लोक सभा नियमों के नियम 354 से तुलना करें
120 राज्य सभा वाद-विवाद, 15.9.1954, कालम 2311
121. नियम 57
122. राज्य सभा वाद-विवाद, 29.2.1988, कालम 299
123. -वही- 3.8.1977, कालम 185
124. -वही- 28.2.1989, कालम 19
125. -वही- 2.1.1991, कालम 740—50
126. -वही- 29.4.1953, कालम 4425–26
127. लोक सभा वाद-विवाद, 30.4.1953, कालम 5509–10

128. राज्य सभा वाद-विवाद, 1.5.1953, कालम 4623–24
129. लोक सभा वाद-विवाद, 1.5.1953, कालम 5555
130. लोक सभा वाद-विवाद, 1.5.1953 कालम 5543—5556
131. राज्य सभा वाद-विवाद, 6.5.1953, कालम 5038–42
132. लोक सभा वाद-विवाद, 6.5.1953, कालम 5884
133. राज्य सभा वाद-विवाद, 16.9.1963, कालम 4260–4340
134. लोक सभा नियम 74 और 75 जिनमें तब से संशोधन हो चुका है; **देखिए,** लोक सभा संसदीय समाचार (2), 9.5.1989; राज्य सभा वाद-विवाद, 9-8-1968, कालम 2696-2701; 20-8-1968, कालम 3701-08
135. राज्य सभा वाद-विवाद, 26.8.1968, कालम 4530
136. -वही- 11.5.1954, कालम 5999–6000
137. लोक सभा वाद-विवाद, 12.5.1954, 13.5.1954, कालम 7161—69 और 7275—83
138. राज्य सभा वाद-विवाद, 14.5.1954, कालम 6424—33 और 15.5.1954, कालम 6539—43
139. रिपोर्ट ऑफ द ज्वाइंट सिटिंग आफ् द कमिटीज़ ऑफ प्रिविलेजेज़ ऑफ द लोक सभा एण्ड द काउंसिल ऑफ स्टेट्स (1954); ब्यौरे के लिए आगे अध्याय-8 **देखिए,** संसदीय विशेषाधिकार
140. फाइल सं॰ सी एस–3/53– एल; राज्य सभा वाद-विवाद, 9.4.1953, कालम 2501—03 भी **देखिए**
141. फाइल सं॰ सी एस-3/53-एल
142. श्री एस॰ एल॰ शकधर, 'दोनों सदनों के पारस्परिक संबंध', द्वितीय सदन—आधुनिक विधान-मंडलों में उसकी भूमिका—राज्य सभा के पच्चीस वर्ष, राज्य सभा सचिवालय, 1977, पृष्ठ 299
143. लोक सभा वाद-विवाद, 12.5.1953, कालम 6402
144. -वही- 13.5.1953, कालम 6592
145. -वही- कालम 6596–97
146. लोक सभा संसदीय समाचार (1), 24.12.1953
147. राज्य सभा वाद-विवाद, 13.5.1954, कालम 6321—28
148. -वही- कालम 6327-28
149. लोक सभा वाद-विवाद, 24.11.1961, कालम 1010—66
150. लोक सभा संसदीय समाचार (1), 20.11.1963
151. राज्य सभा वाद-विवाद, 28.4.1975, कालम 122—35
152. लोक सभा वाद-विवाद, 29.4.1975, कालम 204—22
153. राज्य सभा वाद-विवाद, 30.4.1975, कालम 213—29
154. -वही- 2.5.1975, कालम 140—42
155. लोक सभा वाद-विवाद, 28.7.1982, कालम 332
156. राज्य सभा वाद-विवाद, 24.11.1952, कालम 49–50
157. -वही- 27.11.1952, कालम 422
158. लोक सभा वाद-विवाद, 2.3.1963, कालम 1739—41
159. राज्य सभा वाद-विवाद, 4.3.1963, कालम 1614—24
160. लोक सभा वाद-विवाद, 12.3.1965, कालम 4023—25
161. राज्य सभा वाद-विवाद, 15.3.1965, कालम 3443

162. राज्य सभा वाद-विवाद, 3.5.1966, कालम 62—80
163. लोक सभा वाद-विवाद, 18.3.1954, कालम 2640 और 4010–11
164. -वही- 30.3.1973, कालम 291—327
165. राज्य सभा वाद-विवाद, 31.3.1973, कालम 11—27
166. -वही- 30.4.1973, कालम 125—28
167. लोक सभा वाद-विवाद, 19.2.1982, कालम 9—27
168. राज्य सभा वाद-विवाद, 23.2.1982, कालम 213—15